कल्याण

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम। जय रघुनन्दन जय सियाराम ॥
रघुपति राघव राजा राम। पतितपावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ-आगारा ॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर वैशाख, अप्रैल सन् १९४९ की

चित्र-सूची

तिरंगा

वार्षिक मूल्य भारतमें ६ॾ) विदेशमें ८॥ॾ) (१३ शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति भारतमें ।ॾ) विदेशमें ॥–) (१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

सब प्राणियोंके हितमें तत्पर योगी

क्षीण-पाप, दुविधारहित, ऋषि संयत-मन-प्राण ।
सर्वभूत-हितमें निरत पाते पद निर्वाण ॥ (गीता ५ । २५)

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कल्याण

वेणुवादनशीलाय गोपालायाहिमर्दिने । कालिन्दीकूललीलाय लोलकुण्डलधारिणे ॥
वल्लवीनयनाम्भोजमालिने नृत्यशालिने । नमः प्रणतपालाय श्रीकृष्णाय नमो नमः ॥

वर्ष २३ } गोरखपुर, सौर वैशाख २००६, अप्रैल १९४९ { संख्या ४ पूर्ण संख्या २६९

सर्वभूतहित-तत्पर योगी

जो सबके हितमैं नित आवै,
पर-सुख देखि परम सुख मानत सोइ परम फल पावै।
समुझि ईसके रूप जीव सब सादर सीस नवावै,
देइ अहार अम्बु तृन औषध सबकी बिथा मिटावै।
मनहिं सुधारि धारि हरि हियमैं दुविधा दुरित दुरावै,
योगी सकल भूत-हित-तत्पर शान्त ब्रह्म-पद पावै॥

'राम'

याद रक्खो—जो लोग भीतरसे गंदे रहकर बाहरी सजावटके द्वारा उस गंदगीको ढकना चाहते हैं, उनकी गंदगी घटती नहीं, अपितु बढ़ती है और वे भीतरकी गंदगीके बुरे फलसे भी नहीं बच सकते। सच्चा लाभ तो भीतरकी गंदगीको मिटानेपर ही मिलता है।

याद रक्खो—तुम्हारे मनमें यदि काम, क्रोध, लोभ, असूया, द्वेष, हिंसा आदि दोष भरे हैं, तुम उनके दूर करनेका कोई प्रयत्न नहीं करते वरं उनका रहना तुम्हें बुरा भी नहीं माल्म होता और तुम ऊपरसे निष्कामता, क्षमा, त्याग, गुण-दर्शन, प्रेम और सेवाका उपदेश करनेमें बड़ी ऊँची उड़ान भरते हो. तो इससे तुम्हें क्या लाभ है। इससे तो दम्भ ही बढ़ता है।

याद रक्खो—ऊपरसे यदि लोग तुममें कोई अच्छाई न भी देखें और तुम्हारा हृदय दोषरहित और पवित्र है तो तुम वस्तुतः अच्छे हो। अच्छा असलमें वही है जो अपने अन्तर्यामी भगवान्‌के सामने अच्छा है, उनकी दृष्टिमें निर्दोष है।

याद रक्खो—तुम जो भक्ति, प्रेम और ज्ञानकी बातें करते हो, इनका भी कोई मूल्य नहीं है, यदि तुम्हारे हृदयमें भक्तिकी पवित्र प्रभुपरायणता, प्रेमकी मधुर और निष्काम सरसता एवं ज्ञानकी दिव्य ज्योति नहीं है। मनसे भक्त बनो, प्रेमका मनमें ही अनुभव करो और ज्ञानके प्रकाशको अंदर ही प्रदीप्त करो, तभी उनका असली लाभ मिलेगा।

याद रक्खो—बाहरके बहुत बड़े आडम्बरकी, सच्चे क्षुद्रतम भावके साथ भी तुलना नहीं हो सकती। सचाई पैदा करो—सचाई थोड़ी है, तब भी वह महान् उपकार करनेवाली है, क्योंकि सचाई है।

याद रक्खो—उपदेशकका उपदेश पहले उसके अपने लिये ही होना चाहिये। जो कुछ अच्छी बात तुम कहना चाहते हो, कहते हो; उसे पहले अपने प्रति कहो और वस्तुतः तुम उसे अच्छी मानते हो तो उसे अपने जीवनमें धारण कर लो। दूसरेके हितके लिये अपने हितका परित्याग करना तो पुण्य है; परंतु जो हितको अपने लिये हित ही नहीं समझता, केवल दूसरोंके लिये ही उसे हित बतलानेका नाटक करता है, वह अपने हितका त्याग क्या करेगा। उसके पास तो अपना हित है ही नहीं, वह तो केवल लोगोंको ठगनेके लिये, उनके सामने अपनेको सदाचारी महात्मा सिद्ध करनेके लिये कपट करता है। उसे इतना भी विश्वास नहीं है कि अन्तर्यामी भगवान् मेरे कपटको जानते हैं और वे इससे रुष्ट होंगे। ऐसा पुरुष न तो अपना ही हित करता है और न दूसरोंका ही।

याद रक्खो—मनुष्य-जीवन सचमुच बड़ा दुर्लभ है, यह व्यर्थ खोने या पाप कमानेके लिये नहीं मिला है। इसका यथार्थ सदुपयोग करो। इसके एक-एक क्षणको भगवान्‌के चिन्तनमें लगा दो। मत भूलो यहाँकि धन-जन, विद्या-बुद्धि, सम्मान-सत्कार, प्रभुत्व-अधिकार और मेरे-तेरेके मोहमें। जीवन बीता जा रहा है। जबतक मृत्यु नहीं घेरती; इन्द्रिय और मन काम देते हैं, तभीतक कुछ कर सकते हो। बड़ी लगनसे लगा दो मनकी प्रत्येक वृत्तिको, शरीरकी प्रत्येक क्रियाको, इन्द्रियकी प्रत्येक चेष्टाको श्रीभगवान्‌के भजनमें।

याद रक्खो—यहाँकी मान-बड़ाई, धन-वैभव, यश-कीर्ति और प्रभुत्व-अधिकारको तुमने प्रचुर रूपमें प्राप्त भी कर लिया तो क्या होगा उससे। तुम्हारे साथ जायगा केवल तुम्हारा कर्म-संस्कार। इनमेंसे कोई भी न तो तुम्हारा साथ देगा, न तो तुम्हारा सहायक होगा। तुम्हारा जीवन व्यर्थ चला जायगा। व्यर्थ ही नहीं, जागतिक लाभकी कामनासे जो पाप-कर्म तुमसे बन रहे हैं, इनका बोझ तुम्हारे साथ जायगा जो असंख्य जन्मोंतक तुम्हें कष्ट देता रहेगा। अतएव जल्दी सावधान हो जाओ। मानव-जीवनके वास्तविक लक्ष्यको समझो और जीवनके प्रत्येक क्षणको उसीकी सिद्धिमें लगा दो।

'शिव'
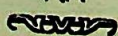
महाभाग राजर्षि भगीरथ

(श्री १००८ श्रीपूज्य स्वामीजी श्रीकरपात्रीजी महाराज)

प्रसिद्ध राजा भगीरथने महात्मा त्रितलसे प्रश्न किया—'भगवन् ! सारशून्य चित्तवृत्तिरूप अरण्यानीमें भ्रमण करते-करते खिन्न हो गया, इसका अन्त कैसे हो ? कृपा कर कहें ।' महात्मा त्रितलने कहा—'सर्व-विभेदशून्य, साम्यभावसे विराजमान, पूर्ण ज्ञेय बोधसे ही सर्वदुःख क्षीण होगा और सब ग्रन्थियाँ टूट जायँगी । ज्ञप्तिमात्र आत्मा ही ज्ञेय है । वह सर्वगत, नित्य और उदयास्तवर्जित है ।' भगीरथने कहा—'भगवन् ! चिन्मात्र, निर्गुण, निर्मल, शान्त आत्मा ही सब कुछ है, देहादि इतर पदार्थ कुछ नहीं हैं—यह मैं जानता हूँ, परंतु स्फुट प्रतिपत्ति नहीं होती । सर्वविक्षेपशून्य विज्ञप्तिमात्र कैसे सम्पन्न होऊँ ? यह बतलायें ।' त्रितलने राजा भगीरथको एतदर्थ अनासक्ति, एकान्तवास आदि ज्ञान-साधनोंका उपदेश किया—'राजन् ! तीव्र प्रयत्नसे भोगवासना, लज्जादि त्यागकर, परम अकिञ्चन और सर्वैषणाशून्य होकर शत्रुओंके घरमें भिक्षाटन करते हुए राजत्वादि विशेषणोंसे मुक्त होकर, निरहङ्कार हो अहर्निश ब्रह्माभ्यास करो ।'

महात्माका उपदेश सुनकर राजाने अग्निष्टोम यज्ञ किया और उसीके व्याजसे सम्पूर्ण राज्य-सम्पत्ति लुटा दी । हाथी, घोड़े, रथ, रत्न सभी तीन दिनोंमें ही समाप्त कर दिये । राज्य भी सीमावर्ती शत्रुको दे दिया और तृणके समान सब छोड़कर बैठ गये । जब शत्रुने राजमहलपर भी अधिकार करना चाहा, तब उसे भी छोड़ आप गाँवोंमें कहीं दूर भिक्षाचर्या करते हुए ब्रह्माभ्यासमें निमग्न हो गये ।

यदृच्छया भ्रमण करते-करते एक बार आप कभी उसी अपने पुरमें भिक्षाके लिये पहुँच गये । यहाँ मन्त्रियों एवं पौरोंने आपको देखा और आदरसे सबने भिक्षा दी । आपने अपने शत्रुभूत राजाके यहाँसे भी भिक्षा ले ली । सब बड़े ही विषादमें थे । भगीरथकी दीनदशा समझकर सभी चिन्तित और दुखी हो रहे थे । शत्रु राजाने कहा—'भगवन् ! आप कृपाकर अपना राज्य लें ।' परंतु परम विरक्त भगीरथने भिक्षाके अतिरिक्त कुछ भी नहीं लिया । वे कई दिनोंतक उसी पुरमें रहे, पश्चात् कहीं चले गये ।

कहीं उनके गुरु त्रितल मिले । दोनों प्रशान्त भिक्षु ब्रह्मविचारमें परम साम्यभावको प्राप्त हो रहे थे । वे देहधारणको एक विनोदमात्र समझ रहे थे । तपस्या, त्याग और विचारके प्रभावसे सिद्धों और देवताओंने अष्टविध ऐश्वर्य आदि भी अर्पण किया; किंतु जर्जर तृणके समान उन्होंने सबकी उपेक्षा कर दी ।

प्रारब्धवशात् वे ही कभी किसी राज्यमें गये । वहाँका राजा मर गया था, मन्त्रियोंने इन्हें पहचानकर गद्दीपर बिठा दिया । इधर भगीरथके राज्यका अधिकारी राजा भी मर गया । मन्त्रियोंने प्रार्थना करके वह भी राज्य भगीरथको ही अर्पण कर दिया । इस तरह फिर भगीरथ अखण्ड भूमण्डलके शासक हो गये । परंतु अब उनका राज्य केवल लीलामात्र था । अहङ्कार, मोह, आसक्ति आदिकी सत्ता मिट चुकी थी ।

पश्चात् पितरोंके उद्धारके लिये पुनः राज्य छोड़कर घोर तपस्या करके ब्रह्मा, शङ्कर, महादेवको प्रसन्न करके उसी तत्त्ववित् राजर्षिने गङ्गाजीका आनयन किया ।

(सिद्धान्त)

चाहने योग्य सत्य वस्तु

जो वस्तु सत्य है, उसे अपने अस्तित्वकी रक्षाके लिये यह अपेक्षा नहीं रहती कि कोई उसे माने ही। हम उसे न मानें, उसकी सत्ता अस्वीकार कर दें, पर सत्य तो सत्य ही रहेगा, उसकी सत्ता ज्यों-की-त्यों बनी रहेगी। हमारे मानने न माननेसे उसका तो कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। हाँ, उसे न माननेके कारण उसके द्वारा प्राप्त होनेवाले परम लाभसे हम बहुत अंशोंमें वञ्चित अवश्य रह जाते हैं, इतना अन्तर हमारे लिये तो हो ही जाता है।

प्रभुकी सत्ता भी ऐसी ही परम सत्य वस्तु है। कोई भले ही उसे न माने, पर वह तो हममें—विश्वके अणु-अणुमें व्याप्त है; अनादिकालसे है, अनन्तकालतक रहेगी, ज्यों-की-त्यों रहेगी। हम यदि उसे मान लेते हैं, तब तो प्रभुका अनन्त वैभव, अनन्त बल, असीम सुयश (सद्गुण), अपरिसीम सौन्दर्य, अथाह ज्ञान, अपार निर्लेपता—उनका सब कुछ हमारा ही है और इसलिये विश्वका कण-कण क्षण-क्षणमें हमारे लिये नये-नये सुखका, नित्य नूतन आनन्दका द्वार खोलता रहता है; किंतु दुर्भाग्यवश यदि हम उनकी सत्ताको अस्वीकार करते हैं, तो जगत्की अगणित भोग-सामग्री पासमें रहनेपर भी सचमुच हमारा कुछ भी नहीं, यहाँकी प्रत्येक वस्तु हमारे लिये पद-पदपर दुःख-सन्तापका ही सृजन करती रहेगी।

यह अटल नियम है कि जहाँ हमने उनकी सत्ताको स्वीकार करना छोड़ा कि बस, वहीं रास्ता भूले; सुन्दर सड़कसे हटकर उधेड़-बुनके बीहड़ जंगलमें भटकने लगे, चिन्तारूपी काँटोंसे हमारे अङ्ग छिदने लगे, दुःखरूपी दावानलकी लपटोंसे सारा शरीर, मन, प्राण—सब कुछ झुलसने लगा। कहीं कोई रक्षक नहीं, पथ दिखानेवाला नहीं। तीन ओरसे त्रितापरूपी दावाग्नि हमें भस्म करनेको दौड़ी आ रही है, आगे निराशाका घोर अन्धकार छाया हुआ है। प्रभुकी उपेक्षा करते ही हमारी ऐसी-सी दशा हो जाती है। यह सम्भव है कि जवानीके जोशमें विषयोंकी मदिरा पी-पीकर उन्मत्त हो जानेके कारण हमें अपनी इस दुरवस्थाका भान पहले कुछ देरके लिये न हो, पर यह नशा उतरनेमें अधिक विलम्ब नहीं होता तथा फिर हमें उपर्युक्त अनुभूति ही होती है। प्रभुकी अवज्ञा करनेका यह अवश्यम्भावी परिणाम है! अतएव हममेंसे किसीको भी कभी भी तनिक भी ऐसा अनुभव हो—किसी प्रश्नको लेकर उधेड़-बुन होने लगे, मनमें चिन्ता चुभने लगे, जलन होने लगे, सहायकका अभाव खटकने लगे, पीछे हटनेमें तो विनाश दीखे और आगे बढ़ना सम्भव नहीं प्रतीत हो—तो उसे उस समय तुरंत निश्चितरूपसे यह समझ लेना चाहिये कि उसने प्रभुकी सत्ताका अवश्य-अवश्य अनादर किया है। पथ भूलकर सन्मार्गसे हटकर कुमार्गपर आ गया है। तथा इस विपत्तिजालसे छूटकर सन्मार्गपर आ जानेका एकमात्र उपाय यह है कि वह जहाँ जिस परिस्थितिमें है, वहीं उसी अवस्थामें प्रभुकी सर्वत्र व्याप्त सत्ताको स्वीकार कर ले। ऐसा किया कि बस, उसी क्षण वहीं प्रभुकी सत्ता व्यक्त हो जायगी, वहींसे सीधा, अत्यन्त सुन्दर मार्ग उसे दीख जायगा, प्रश्न हल हो जायगा, जलन शान्त हो जायगी, चिन्ता मिट जायगी। साथ ही—प्रभुका वरद-हस्त निरन्तर मेरे सिरपर था और है—यह अनुभूति भी उसे हो जायगी।

सच तो यह है कि यहाँ इस विश्वमें हमारे लिये कोई भी विपत्तिका जाल नहीं, दुःखका कोई भी तनिक भी कहीं भी कारण नहीं है। सर्वत्र सब ओरसे हमारे लिये मङ्गलका परम आनन्दका स्रोत बह रहा है। ऐसा इसलिये कि एकमात्र प्रभु ही सदा सर्वत्र विराजित हैं। हमारे आगे वे हैं, हमारे पीछे वे हैं, दाहिनी ओर वे

हैं, बायीं ओर वे हैं, नीचे वे भरे हैं, ऊपरकी ओर भी वे ही भरे हैं, सम्पूर्ण जगत्के रूपमें वे ही हमें दीख रहे हैं—

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥
(मुण्डक० २। २। ११)

किंतु हम इस बातको मानते नहीं, इस परम सत्यको स्वीकार नहीं करते। इसीलिये हम भ्रान्त हो जाते हैं, हमें कुछ-का-कुछ दीखने लग जाता है; नित्य मङ्गलके स्थानपर अमङ्गलका और सतत आनन्दके स्थानपर दुःखज्वालाका अनुभव होने लगता है। अब यदि हम भ्रान्तिको मिटा दें, सत्यको स्वीकार कर लें; यह मान लें कि हमारा तो प्रभुमें ही निरन्तर निवास है, बस, फिर तो हमारी सारी उधेड़-बुन, चिन्ता, दुःख सदाके लिये मिट जायँ; जहाँ दृष्टि जाय, वहीं हमें सुख-ही-सुख भरा दीखे। यह कोई आवेशजन्य धारणा (Hypnotic Suggestion) जैसी क्रियाका क्षणिक परिणाम हो, सो बात नहीं। यह तो परम सत्य सिद्धान्त है, मनीषियोंका प्रत्यक्ष स्थायी अनुभव है। कोई भी इसपर विश्वास करके नित्य सत्य प्रभुकी सर्वत्र सत्ता स्वीकार करके सदाके लिये सुखी हो सकता है।

हम कह सकते हैं कि ऐसा करना कौन नहीं चाहेगा? सुखकी चाह किसे नहीं है? तो इस सम्बन्धमें यह बात है कि केवल कहने-सुननेमात्रसे ऐसी स्थिति प्राप्त नहीं होती। इसके लिये तो हमें अपने जीवनका दृष्टिकोण बदलना पड़ेगा। मानव-जीवनकी सार्थकता पशुकी भाँति भोग भोगनेमें नहीं, अपितु नित्य सत्य प्रभुकी अनुभूति कर लेनेमें है, यह दृष्टि स्थिर करनी पड़ेगी। सत्स्वरूप प्रभुसे ही हम निकले हैं, सत्स्वरूप प्रभुमें ही हमारा निवास है और अन्तमें भी हम सत्स्वरूप प्रभुमें ही प्रतिष्ठित रहेंगे—

'सन्मूलाः सौम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः।'

इस सिद्धान्तको शरीर छूटनेसे पहले ही प्रत्यक्ष अनुभव कर लेनेके लिये कटिबद्ध होना पड़ेगा। तथा यह करके प्रभुकी ओरसे निरन्तर बहनेवाली प्रेमकी धारा, करुणाकी धाराके लिये हमें अपने अंदर मार्ग देना पड़ेगा, अपने द्वार खोल देने पड़ेंगे। अभी तो हमने सब ओरसे अपनी अगणित स्वार्थमयी इच्छाओंके किंवाड़ बनाकर उन्हें बंद कर रक्खा है। प्रभुका प्रेम, उनकी कृपा हमें अपने-आपमें मिला लेनेके लिये हमारे द्वारपर आती है, पर सब ओरसे द्वार बंद देखकर लौट जाती है। हमारी इच्छाएँ ही प्रभुके मङ्गलमय, प्रेममय, कृपामय दानसे हमें वञ्चित कर देती हैं। इसीलिये हमें अपनी इच्छाओंका त्याग करना ही पड़ेगा, अपनी इच्छा मिटाकर प्रभुकी इच्छाको अपने अंदर व्यक्त होनेके लिये मार्ग देना पड़ेगा। तभी हमारा काम होगा, तभी हमारे उद्देश्यकी पूर्ति होगी।

एक दिनमें ऐसा हो जायगा, यह सम्भव नहीं। अपनी इच्छाओंका त्याग कर देना सहज नहीं है। यों तो प्रभुमें अनन्त सामर्थ्य है। उनकी कृपासे क्षणभरमें असम्भव सम्भव हो जाय, यह बात दूसरी है। पर साधारणतया क्रमशः ही हम अपनी इच्छाओंका त्याग कर सकेंगे। इच्छाएँ छूट जायँ, इसके लिये हमें यह विश्वास बढ़ाना पड़ेगा, यह दृढ़ धारणा करनी पड़ेगी कि वास्तवमें हमारे लिये जो भी आवश्यक है, हमें जो भी उचितरूपसे चाहिये, वह हमें प्रभु अवश्य देते हैं तथा आगे भी जो आवश्यक होगा, उसकी पूर्ति वे अवश्य करेंगे। जो हमें प्राप्त नहीं है, उसकी आवश्यकता ही हमें नहीं है, हमारे लिये जो आवश्यक है, वह प्रभु न दें, यह असम्भव है। इस भावको जाग्रत् कर प्रत्येक इच्छाकी जड़ काटनी होगी। यह भाव जितनी मात्रामें दृढ़ होता जायगा, उतनी ही मात्रामें इच्छाएँ मिटती जायँगी। और जैसे-जैसे इच्छाएँ मिटेंगी, वैसे-वैसे ही द्वार खुलने लगेंगे, हमारे अंदर प्रभुका प्रेम भरने लगेगा। उनकी

कृपा भरने लगेगी। धीरे-धीरे हमारा सब कुछ प्रभुसे एकमेक हो जायगा। प्रभुकी सत्तामें ही हमारा 'मैं' भी विलीन हो जायगा। अन्तमें सब ओर सर्वत्र बच रहेंगे एकमात्र केवल प्रभु ही; और कुछ नहीं।

पर कदाचित् हम अत्यन्त गिरी दशामें हों, इतने निर्बल हो गये हों कि इच्छाओंको छोड़नेमें अपनेको सर्वथा असमर्थ अनुभव करें, 'नाथ! तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो, मेरी कोई भी इच्छा नहीं, तुम जैसे चाहो, वैसे ही करो नाथ!' हमारा हृदय कहीं यह न पुकार सके और न हमारा दृष्टिकोण ही बदले; भोग ही हमारे जीवनका उद्देश्य बना रहे, तब हम क्या करें? हमारे-जैसोंके लिये भी आगे बढ़नेका, प्रभुकी सत्ता अनुभव करनेका कोई उपाय है क्या? है, अवश्य है! हम अपनी भोगेच्छाको लिये हुए ही प्रभुसे जुड़ें। हमें धन, जन, परिजन, स्वास्थ्य, मान-सम्मान, यश-कीर्ति—यही चाहिये तो भी कोई बात नहीं। इन्हें लिये रहकर ही इनकी पूर्तिके लिये हम प्रभुसे जुड़ें, पर इतनी सावधानी रक्खें—

(क) प्रभुपर यह बन्धन न लगावें कि वे हमारी अमुक इच्छाकी पूर्ति इस रूपमें करें। उनके सामने अपनी इच्छा रख दें, पर उन्हें उपाय न बताने लग जायँ कि इस इच्छाकी पूर्तिके लिये वे अमुक निमित्त ही निर्धारित करें। विश्वास रक्खें कि उनके असीम ज्ञानमें एक-से-एक बढ़कर इतने सुन्दर-सुन्दर असंख्य उपाय हैं कि जिनकी कल्पना भी हमारे मन-बुद्धिके लिये सर्वथा असम्भव है।

(ख) उनसे कहनेके पश्चात् वे करेंगे कि नहीं यह संशय मनमें न आने दें। वे करेंगे ही, यह विश्वास क्षण-क्षणमें दृढ़—दृढ़तर होता रहे।

(ग) प्रारम्भमें यदि वे हमारी कुछ इच्छाओंको पूर्ण न करें तो भी हम निराश न हों, पूर्ण उत्साहसे उनके सामने फिर भी अपनी दूसरी-दूसरी इच्छाओंको रखनेके लिये अवश्य आवें।

(घ) वे यदि पूर्ण करनेमें देर करें तो घबड़ाकर हम दूसरेकी ओर देखने न लग जायँ अथवा अपने बलपर पूरा करनेका मनसूबा न बाँधने लगें।

(ङ) भूलकर भी, किसीको नीचा दिखानेके लिये, किसीकी हानि करनेके उद्देश्यसे कोई भी वस्तु प्रभुसे कदापि न माँगे।

यदि उपर्युक्त पाँच बातोंकी सावधानी रखकर हम प्रभुसे कुछ भी माँगेंगे तो दोमेंसे एक बात निश्चय होगी—या तो वह वस्तु प्रभु हमें दे देंगे, या उस वस्तुके प्रति जो हमारी इच्छा है, उस इच्छाको ही मिटा देंगे। यदि उन्होंने हमारी इच्छा मिटा दी तो काम बन गया; किंतु कहीं पूर्ण कर दी तो उसमें भी इच्छा-पूर्तिके अतिरिक्त एक परम लाभ हमें और हो गया। वह यह कि उनके द्वारा प्राप्त होनेवाली वस्तु आगे ऐसी नवीन इच्छामें हेतु नहीं बनेगी जो हमारी प्रगति रोक दे। हमें उनकी ओर बढ़ानेवाले अङ्कुर ही उस वस्तुसे प्रकट होंगे। ये अङ्कुर कुछ ऐसे विचित्र होते हैं कि इनकी ओटमें अन्य समस्त इच्छाएँ मर जाती हैं। फिर तो वही स्थिति आ जाती है—इच्छाएँ मिट गयीं और हममें सब ओरसे प्रभु-ही-प्रभु पूर्ण हो गये।

अबतक जितनी बातें हमारे सामने आयीं उनका सारांश यह है—प्रभु हैं, किसीके न माननेपर भी उनकी सत्ता अक्षुण्ण रहती है। न माननेवाला माननेके कारण होनेवाले परम लाभसे वञ्चित हो जाता है। उन्हें न माननेका ही परिणाम है जीवनमें उधेड़-बुन, दुःख-ज्वाला। अन्यथा इनका अस्तित्व ही नहीं है; क्योंकि सर्वत्र प्रभु परिपूर्ण हैं, सर्वत्र आनन्द भरा है। कोई भी इस स्थितिका अनुभव प्राप्त कर सकता है। पर इसके लिये उसे इस ओर मुड़ना पड़ेगा तथा अन्य समस्त सांसारिक इच्छाओंको छोड़ना पड़ेगा। भोगकी इच्छा मिटा देनेमें असमर्थ प्राणीको भी प्रभुकी अनुभूति हो सकती है, पर तब, जब कि इच्छापूर्तिके लिये भी

वह अन्य उपायोंको छोड़कर एकमात्र प्रभुपर ही निर्भर हो जाय।

उपर्युक्त बातोंपर विचारकर यदि हम प्रभुकी सत्ता स्वीकार कर लें तो फिर हमारे जीवनमें पद-पदपर जो नयी-नयी उलझनें आती हैं, एकका समाधान करते-न-करते दूसरी आ घेरती हैं, वे न आवें, हममेंसे अधिकांशके हृदयमें जो दुःखकी भट्ठी जलती है, वह शान्त हो जाय। उसके स्थानपर सुखका एक ऐसा स्रोत उमड़ चले कि उसकी धारामें निमग्न होकर हम स्वयं तो शीतल हो ही जायँ, हमारे सम्पर्कमें आनेवाले दूसरे भी निहाल हो जायँ। इसोलिये भारतवर्षके ऋषि परम निष्काम होकर भी यह कामना करते थे—

माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोत्।

'मैं कदापि प्रभुकी सत्ता अस्वीकार न करूँ, प्रभु भी मुझे कभी भूल न जायँ।'

हम भी यही कामना करें। सर्वप्रथम चाहने योग्य सत्य वस्तु असलमें यही है। इसीकी चाह हममें होनी चाहिये।

श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन

(३०)

नतजानु हुए, अञ्जलि बाँधे वे धनदपुत्र—नलकूबर, मणिग्रीव श्रीकृष्णचन्द्रके चरणप्रान्तमें अवस्थित हैं, उन्हें प्रणाम कर रहे हैं। व्रजचन्द्रकी चरण-नख-चन्द्रिकाने उनमें दिव्य ज्ञानका उन्मेष कर दिया है, नवनीरद श्यामल श्रीअङ्गोंने रसकी सरिता बहा दी है। वे कभी तो उस ज्ञानके आलोकमें व्रजेन्द्रनन्दनके अचिन्त्य अनन्त ऐश्वर्यको प्रत्यक्ष अनुभव कर चमत्कृत होने लगते हैं, और कभी रसपानसे उन्मत्त होकर अपनी सुध-बुध भूल जाते हैं। श्रीकृष्णचन्द्र चकित चञ्चल भीति-विजड़ित नेत्रोंसे उनकी ओर देख रहे हैं तथा उनके आश्चर्यविस्फारित पर रससिक्त नेत्र निष्पन्द होकर श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर लग रहे हैं। यह जानना संभव नहीं कि वास्तवमें कितने कालतक उनकी यह दशा रही है। अवश्य ही बाह्य दृष्टिसे देखनेपर तो कुछ ही क्षण बीते हैं और अब वे अखिल लोकनाथ श्रीकृष्णचन्द्रकी महिमा गाने जा रहे हैं—

कृष्णं प्रणम्य शिरसाखिललोकनाथं
बद्धाञ्जली विरजसाविदमूचतुः स्म॥
(श्रीमद्भा० १० । १० । २८)

किंतु हर्षातिरेकवश कण्ठ रुद्ध हो जाता है, वे कुछ भी बोल नहीं पाते। नेत्रोंसे अनवरत अश्रुकी वर्षा हो रही है; कपोल, वक्षःस्थल आर्द्र हो चुके हैं। वे अपने मुकुटमण्डित सिरको झुकाकर दूरसे तो वन्दना कर चुके पर उसे श्रीकृष्णचन्द्रके चरणपल्लवसे स्पर्श करा देनेके लिये वे अत्यन्त व्याकुल हैं। किंतु शरीर विवश हो रहा है, जड-सा बनकर चेष्टाशून्य हो गया है। कुछ क्षणोंके पश्चात् किसी अचिन्त्य शक्तिकी प्रेरणासे उनके हाथोंमें स्पन्दन होता है, और वे अनुभव करते हैं—सिरसे तो नहीं, पर हाथ बढ़ाकर कदाचित् चरणसरोजके स्पर्शका सौभाग्य संभव हो जाय। इस लालसासे ही वे अपने हाथ श्रीचरणोंके समीप ले जाते हैं। पर बाल्यलीलाविहारीका बाल्यावेश, बाल्यभङ्गिमा कुबेरपुत्रोंको यह सौभाग्य सहजमें देना जो नहीं चाहती। ऊखलसे बँधे होनेके कारण, धराशायी अर्जुन वृक्षोंके मध्यदेशमें ऊखल अटके रहनेसे वे भाग तो नहीं सकते, पर अङ्गोंसे अमानव तेजकी किरणें बिखेरते, प्रज्वलित अग्निके समान चमचम करते हुए चार हाथोंको अपने लघु-लघु चरणोंकी ओर आते देखकर वे स्थिर कैसे रह सकते हैं। जितना अधिक-से-अधिक संभव है, उतना पीछेकी ओर हटकर वे भागनेका प्रयास करते हैं।

अवश्य ही भाग नहीं पाते । किधर जायँ ? कैसे जायँ ? इसीलिये मुग्ध शिशुकी भाँति भयभीत-से होकर वे अपने करकमलोंको नचा-नचाकर उन्हें स्पर्श न करनेके लिये सङ्केत करने लगते हैं। फिर तो कुबेर-पुत्रोंमें यह शक्ति कहाँ कि उन्हें छू लें। जगत्में यह सामर्थ्य किसमें है जो श्रीकृष्णचन्द्रके न चाहनेपर स्वप्नमें भी क्षणभरके लिये उनकी छायाका भी स्पर्श कर ले ? पर नलकूबर-मणिग्रीवके हाथ भी श्रीकृष्णपादारविन्दके स्पर्शका सौभाग्य पाये विना आज लौटनेवाले नहीं। युगलबन्धुओंके नेत्रोंमें वह व्याकुलता भर आती है कि जिसकी सीमा नहीं। बस, यही अपेक्षित थी। कुबेर-पुत्र श्रीकृष्णचरणोंको अपने हाथोंसे वेष्टित कर लेते हैं। उनका रोम-रोम पुलकित हो उठता है। किंतु बाल्यलीलारसमत्त अनन्त ऐश्वर्यनिकेतन श्रीकृष्णचन्द्र तो उस समय भी एक अभिनव-रस-तरङ्गमें बह चलते हैं। वे सोचने लगते हैं—'जननीके मुखसे अनेकों बार देवताओंके स्वरूपका वर्णन सुन चुका हूँ। ये हैं तो दोनों कोई देवता, पर मेरे चरण क्यों पकड़ते हैं........ ?' लीलामयकी यह भावना रसमें सनी रहकर अत्यन्त मसृण होनेके कारण बाहरकी ओर फिसल पड़ी, वे कुबेर-पुत्रोंकी ओर देखकर पुकार ही तो उठे—

कहन लगे हरि तिन तन चाहि, तुम तौ कोउ देवता आहि।
इमि इहि गोकुल-गोप-दुलारे, क्यों हो पकरत पाँव हमारे ॥

श्रीकृष्णचन्द्रकी इस परम दिव्य रसमयी भावनाको कौन ग्रहण करे ? नलकूबर-मणिग्रीवके पास इसे धारण करने योग्य पात्र ही कहाँ है ? यह तो धारण कर सकती हैं विशुद्ध-राग-परिभावितचित्ता गोपसुन्दरियाँ, इसे ग्रहण कर सकते हैं विशुद्ध-राग-रसिक व्रजपुर-गोप, गोपशिशु, इसे लेनेकी क्षमता है विशुद्ध-वात्सल्य-रसघन-मूर्ति व्रजेन्द्रदम्पतिमें—जहाँ जिनके प्रेममें अनन्त-ब्रह्माण्ड-भाण्डोदर श्रीकृष्णचन्द्रके अनन्त ऐश्वर्यकी गन्धतक नहीं, जिनकी चरणरज-कणिकाकी छाया पड़नेसे प्रपञ्चके प्राणियोंको विशुद्ध-रागमार्गके पथिक बननेका अधिकार प्राप्त होता है। इसीलिये नलकूबर-मणिग्रीव इस मधुर रसका आस्वादन न पा सके। व्रजेन्द्रनन्दनकी वह रसमयी वाणी उनके चित्तमें उनकी पात्रताके अनुरूप भावका ही उल्लास कर सकी। उसका रूप यह बन गया। वे कुबेरपुत्र श्रीकृष्णचन्द्रकी महिमाका गान करने जा रहे थे, पर कण्ठ अश्रुपूरित होकर कर नहीं पा रहे थे। श्रीकृष्णचन्द्रकी इस रसीली उक्तिसे इतनी प्रबल, ऐसी गम्भीर धारा बह चली कि ऐश्वर्यज्ञान मानो उसमें सर्वथा डूब जानेके भयसे बरबस कण्ठसे बाहर निकलने लगा, नलकूबर-मणिग्रीव श्रीकृष्णचन्द्रकी स्तुति करने लगे—

पुलकित सरोजसे करनि जोरि बोले तहीं।
जगतपति नाथ तो गुननि गाथ जानें नहीं।
सगुन यह रूप औ निगुन बेदबाणी कहैं।
अखिल तुव मध्य है सकल जानि ज्ञानी लहैं ॥
सुजन जन लाज काज अवतार धारौ मही।
दनुज दल दुष्ट पुष्ट बल मारि तारौ तहीं।
अब करि प्रभो ! सुदृष्टि करुना कृपा-सौं भरी।
अभयपद दान देउ जन जानिये जू हरी ॥

कृष्ण कृष्ण महायोगिंस्त्वमाद्यः पुरुषः परः।
व्यक्ताव्यक्तमिदं विश्वं रूपं ते ब्राह्मणा विदुः ॥
त्वमेकः सर्वभूतानां देहास्वात्मेन्द्रियेश्वरः।
त्वमेव कालो भगवान् विष्णुरव्यय ईश्वरः ॥
त्वं महान् प्रकृतिः सूक्ष्मा रजःसत्त्वतमोमयी।
त्वमेव पुरुषोऽध्यक्षः सर्वक्षेत्रविकारवित् ॥
गृह्यमाणैस्त्वमग्राह्यो विकारैः प्राकृतैर्गुणैः।
को न्विहार्हति विज्ञातुं प्राक्सिद्धं गुणसंवृतः ॥
तस्मै तुभ्यं भगवते वासुदेवाय वेधसे।
आत्मद्योतगुणैश्छन्नमहिम्ने ब्रह्मणे नमः ॥
यस्यावतारा ज्ञायन्ते शरीरेष्वशरीरिणः।
तैस्तैरतुल्यातिशयैर्वीर्यैर्देहिष्वसङ्गतैः ॥
स भवान् सर्वलोकस्य भवाय विभवाय च।
अवतीर्णोऽशभागेन साम्प्रतं पतिराशिषाम् ॥
नमः परमकल्याण नमः परममङ्गल।
वासुदेवाय शान्ताय यदूनां पतये नमः ॥

(श्रीमद्भा० १० । १० । २९-३६)

'श्रीकृष्णचन्द्र ! समस्त विश्वका चित्त आकर्षित करनेवाले नराकृति परब्रह्म ! हे परमयोगेश्वर ! तुम्हीं समस्त जगत्‌के आदि हो, तुम्हीं पुरुषोत्तम हो, कार्य-कारणात्मक यह समस्त परिदृश्यमान जगत् तुम्हारा ही रूप है—यही अनुभूति तत्त्वदर्शी ब्राह्मणोंको होती है। समस्त भूतोंके देह-प्राण, अन्तःकरण, इन्द्रियाँ—इन सबके स्वामी तो तुम्हीं हो नाथ! तुम्हीं सर्वशक्तिमान् काल हो, अव्यय तत्त्व हो, सर्वव्यापक हो, सर्वनियन्ता हो। तुम्हीं सत्त्वरजस्तमोमयी सूक्ष्म प्रकृति एवं प्रकृतिके कार्य हो। तुम्हीं समस्त स्थूल-सूक्ष्म शरीरोंकी सभी अवस्थाओंके साक्षी हो। अधिष्ठाता पुरुष भी तुम्हीं हो श्रीकृष्णचन्द्र ! तुम्हारे द्वारा परिचालित, तुम्हारी सत्तासे ही क्रियाशील प्राकृत मन, बुद्धि, इन्द्रियोंके द्वारा तुम्हें जान लेना सम्भव नहीं है। नाथ ! देह आदिके अभिमानसे बँधा हुआ ऐसा कौन-सा व्यक्ति इस विश्वमें है, जो तुम्हें जान ले ? क्योंकि स्वप्रकाशरूप होनेके कारण तुम तो सब जीवोंकी उत्पत्तिसे पूर्व भी एकरस वर्तमान रहते हो; फिर किस जीवकी सामर्थ्य है कि आदिस्वरूप तुमको जान ले ? प्रभो ! तुम्हीं वैकुण्ठनाथ भगवान् नारायण हो, तुम्हीं वासुदेव हो, प्रपञ्चविधाता भी तुम्हीं हो। अपने द्वारा ही प्रकाशित सत्त्वादि त्रिगुणोंसे अपनी महिमाको तुमने आच्छादित करा रक्खा है । सच्चिदानन्द परब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्णचन्द्र ! ऐसे महामहिम तुमको जान लेनेकी क्षमता हममें कहाँ । इसलिये हम तो तुम्हें प्रणाममात्र करनेके अधिकारी हैं, तुम्हारे चरण-सरोजमें प्रणाम कर रहे हैं। भगवन् ! जीवकी शक्ति नहीं कि वह ऐसी लीला कर ले, जैसी तुम करते हो। जब कभी भी प्रपञ्चमें अवतीर्ण होते हो, तब-तब ऐसे-ऐसे परम अद्भुत चरित्रोंका प्रकाश करते हो कि जिसकी कहीं तुलना नहीं । तुम्हारी ये अतिशय आश्चर्यमयी लीलाएँ ही प्रमाण बनती हैं, ये अलोकसाधारण लीलाएँ ही इस बातका निर्णय करती हैं कि तुम अशरीर (प्राकृत शरीरसे रहित) का शरीरधारियोंमें अवतरण हुआ है। वही तुम स्वयं इस बार जगत्‌का ऐहिक, आमुष्मिक—अशेष मङ्गलविधान करनेके लिये अपनी सम्पूर्ण शक्तियोंसे अवतीर्ण हुए हो । भक्तोंके सर्वविध मनोरथोंको पूर्ण करना तुम्हारा नित्य स्वभाव है नाथ ! हे परमकल्याणस्वरूप ! तुम्हें नमस्कार है ! हे विश्व-मङ्गलविधायक ! तुम्हें नमस्कार है ! परमशान्त ! हृत्पद्मविहारिन् ! यदुपते ! गोपते ! तुम्हें नमस्कार है, नमस्कार !!'

परम पुरुष सबहीके कारन। प्रतिपारन तारन संघारन ॥
ब्यक्त-अब्यक्त जु बिस्व अनूप। बेद बदत प्रभु तुम्हरौ रूप ॥
तुम सब भूतन कौ बिस्तार। देह, प्रान, इंद्री, अहँकार ॥
काल तुम्हारी लीला श्रीधर। तुम ब्यापी, तुम अव्यय ईश्वर ॥
तुम हीं प्रकृति, पुरुष, महतत्व। धर, अंबर आडंबर सत्व ॥
तुम हीं जीवन तुम हीं जीय। सब ठाँ तुम, कोउ अवर न बीय ॥

× × ×

इंद्रिन करि तुम जात न गहे। प्रगट आहि पै परत न चहे ॥
जैसैं दिष्टि कुंभ कहुँ देखै। कुंभ तौ नाहिंन दिष्टिकौं पेखै ॥
कुंभ के दिष्टि होइ जब कबहीं। सो तुम दिष्टिहि देखै तबहीं ॥
तातैं तुम कहुँ बंदन करैं। जानि न परहु परे तैं परैं।

(नन्ददासकृत दशमस्कन्ध)

इस प्रकार श्रीकृष्णचन्द्रका स्तवन करते-करते, उनके पारावारविहीन ऐश्वर्यसिन्धुमें अवगाहन करते-करते कुवेरपुत्रोंकी अनादि-संसरणजनित भ्रान्ति तो मिट ही जाती है, साथ ही उनका चित्त भक्तिरस-सुधापानके योग्य भी बन जाता है। उनकी अन्य समस्त वासनाएँ सर्वथा धुल जाती हैं, चित्त अतिशय विशुद्ध, निर्मल होकर, भक्ति-पीयूषसिन्धुमें डूबनेके लिये लालायित हो उठता है। इसीलिये अब वे प्रार्थना करने लगते हैं—

वाञ्छावहे किमपि नापरमार्त्तबन्धो
त्वत्पादपङ्कजपरागनिषेविसङ्गात् ।

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

दीनबन्धो ! हमें और कुछ नहीं चाहिये, बस,

इतनी-सी अभिलाषा है कि तुम्हारे चरणपङ्कजसे झरते हुए मकरन्दका पान करनेवाले साधुपुरुषोंका सङ्ग हमें निरन्तर मिलता रहे।

—तथा यह होकर फिर यह हो जाय—

वाणी गुणानुकथने श्रवणौ कथायां
हस्तौ च कर्मसु मनस्तव पादयोर्नः ।
स्मृत्यां शिरस्तव निवासजगत्प्रणामे
दृष्टिः सतां दर्शनेऽस्तु भवत्तनूनाम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । १० । ३८)

भगवन् ! हमारी वाणी निरन्तर तुम्हारा ही मङ्गलमय गुणगान करे, तुम्हारे मधुस्रावी नामरूपगुणलीला आदिके कथनमें नियुक्त रहे। कर्णेन्द्रिय सदा तुम्हारी रसमयी कथाके नाम-रूप-गुणगणके श्रवणमें ही लगी रहे। हमारे हाथ तुम्हारी सेवा—परिचर्याके कर्मोंमें ही व्यस्त रहें। मन तुम्हारे चरणपङ्कजकी स्मृतिमें ही रम जाय। तुम्हारे निवासभूत जगत्के सामने हमारा सिर सदा नत रहे, सबमें तुम्हें व्याप्त देखकर सबके चरणोंमें हम झुक पड़ें। हमारे नेत्र भी केवल निहारा करें तुम्हारे देहभूत संतोंको—

हे करुनानिधि करुना कीजै, अपनी भाउ-भगति-रति दीजै ॥
बानी तुमरे गुन गन गनै, श्रवन परम पावन जस सुनै ॥
ये कर अवर कर्म जिनि करैं, प्रभु की परिचर्या अनुसरैं ॥
मन-अलि चरन-कमल-रस रसौं, चित्र-कमल-जग भूलि न बसौं॥
हे जगदीश ! जसोदा-नंदन, सीस रहौ नित तुव-पद-बंदन ॥
तुमरी मूरति भक्त तुम्हारे, नित ही निरखहु नैन हमारे ॥

कुबेरपुत्र यह कहकर मौन होने लग गये, नहीं-नहीं उनकी वाणी पुनः प्रेमावेशवश स्वतः रुद्ध होने लगी। अस्पष्ट स्वरमें, अश्रुसिक्त कण्ठसे वे इतना और कह पाये—

देवर्षिणा तव पदाब्जमधुव्रतेन
भूयानकारि बत नौ शपता प्रसादः ।
लीलालवोढजगदण्डपरःसहस्रो
येन त्वमक्षिविषयोऽद्भुतबालखेलः ॥
(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

'नाथ ! तुम्हारे चरणसरोजके मधुपानका ही व्रत रखनेवाले देवर्षिने हमपर यथेष्ट कृपा की। अभिशाप देते समय उसमें अपना पूर्ण अनुग्रह भर दिया। ओह ! लवमात्र लीलाके मिससे असंख्य ब्रह्माण्डको अपने अंदर धारण करनेवाले तुम आज इस अद्भुत बालक्रीडाकारी वेशमें हमारी दृष्टिके समक्ष आये हो। उनकी कृपासे ही तो महामहिम तुमको आज हम इस अभिनव शिशुवेशमें देख पा रहे हैं प्रभो !'

अचिन्त्यलीलामहाशक्तिने भी उसी समय लीलामञ्चकी डोरी खींच दी। दृश्य बदला और शैशवलीलारसमें निमग्न हुए श्रीकृष्णचन्द्र क्षणभरके लिये सजग होकर ऐश्वर्यके तटपर आ विराजे—अपने भक्तोंकी महिमाका गान करनेके लिये, अपने मुखारविन्दसे कुबेरपुत्रोंको कुछ आदेश देकर उनके कर्णपुटोंमें अपने कण्ठकी सुधा भर देनेके लिये, उनकी एक चिरवाञ्छा पूर्ण कर देनेके लिये। इसीलिये आते ही, अधरोंमें मन्द हास्य भरकर वे बोलने लग गये—

ज्ञातं मम पुरैवैतदृषिणा करुणात्मना ।
यच्छ्रीमदान्धयोर्वाग्भिर्विभ्रंशोऽनुग्रहः कृतः ॥
साधूनां समचित्तानां सुतरां मत्कृतात्मनाम् ।
दर्शनान्नो भवेद् बन्धः पुंसोऽक्ष्णोः सवितुर्यथा ॥
तद् गच्छतं मत्परमौ नलकूवर सादनम् ।
संजातो मयि भावो वामीप्सितः परमोऽभवः ॥
(श्रीमद्भा० १० । १० । ४०—४२)

'कुबेरपुत्रो ! सुनो, इस घटनाको मैं बहुत पूर्वसे ही जानता हूँ। तुम दोनों श्रीमदसे अंधे थे, परम कारुणिक देवर्षिने तुमपर अपनी कृपा बरसायी, शाप देकर तुम्हारा श्रीमद नष्ट कर दिया—यह सब मुझे ज्ञात है। जाओ पुत्रो ! अब तुम्हारे भवप्रवाहका अन्त हो चुका। यह भी देवर्षिके दर्शनका ही प्रसाद समझो। मुक्ति तो तुम्हें उसी दिन मिल चुकी थी, जिस दिन देवर्षिके दर्शन तुम्हें हुए। सुनो, सूर्योदय होते ही जैसे

नेत्रोंपर छाया हुआ अन्धकार विलुप्त हो जाता है, वैसे ही, समचित्त, मदेकनिष्ठ महापुरुषोंका दर्शन होते ही जीवका अज्ञान-अन्धकार, भवबन्धन भी विनष्ट हो जाता है। तरुयोनि तो तुम्हें मेरी परमाभक्तिकी प्राप्ति करा देनेके लिये प्राप्त हुई थी, बन्धनके लिये नहीं। महापुरुषोंके समागमसे बन्धन होना असम्भव है, उससे तो बन्धनका नाश ही होता है। तुम्हारे बन्धन टूट गये। मेरी अनन्य रति (भक्ति) भी तुम दोनों प्राप्त कर सके हो। जो तुम चाहते थे, वह तुम्हें मिल गयी। अब तुम्हारे लिये संसारमें पुनः पतनका भय सदाके लिये समाप्त हो चुका। अनन्तकालतकके लिये मेरे परायण हुए तुम दोनों अब अपने भवनकी ओर चले जाओ।'

तब बोले हरि करुनाधाम, पूरन हौंहि तुम्हारे काम ॥
नारद प्रीतम भक्त हमारौ, तुम पर कियौ, अनुग्रह भारौ ॥
मो भक्तन कौ यहै सुभाउ, जैसैं उदित होत दिनराउ ॥
सहजहि निविड़ तिमिर कौं हरै, अवर बहुत मंगल बिस्तरै ॥
पुनि बोले हरि सब गुन-सीव, हे नलकूबर ! हे मनिग्रीव ! ॥
अब तुम गवन भवन कौं करौ, मो माया डर तैं जिनि डरौ ॥

नलकूबर-मणिग्रीव कृतार्थ हो गये। उनके प्राण नाच उठते हैं—'कदाचित् एक दो क्षण भी और यहाँ विराम करनेकी आज्ञा मिल जाती ! पर नहीं अब समय नहीं। श्रीकृष्णचन्द्रके समीपमें ही खड़े उन गोपशिशुओंके नेत्रोंमें भय भरा है, यह तो प्रभुके प्रियतम सखाओंके प्रति अपराध हो रहा है।'—कुबेर-पुत्र चलनेके लिये प्रस्तुत हो गये। उन्होंने ऊखलमें बँधे श्रीकृष्णचन्द्रकी परिक्रमा की, उन्हें बार-बार प्रणाम किया; फिर जानेकी सूचना देकर उत्तर दिशाकी ओर चल पड़े—

इत्युक्तौ तौ परिक्रम्य प्रणम्य च पुनः पुनः।
बद्धोलूखलमामन्त्र्य जग्मतुर्दिशमुत्तराम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । १० । ४३)

इहि प्रकार गुह्यक दुवौ प्रभु बचननि उर धारि।
बेर बेर दंडवत करि उत्तर दिसा सिधारि ॥

देवर्षिके प्रति उनके हृदयमें अपरिसीम कृतज्ञता उमड़ आयी है। व्रजपुरके कण-कणके प्रति उनके रोम-रोमसे 'धन्य-धन्य' की घोषणा हो रही है—

धन्य-धन्य ऋषि-साप हमारे।
आदि अनादि निगम नहिं जानत, ते हरि प्रगट देह व्रज धारे ॥
धन्य नंद, धनि मातु जसोदा, धनि आँगन खेलत भए बारे।
धन्य स्याम, धनि दाम बँधाए, धनि ऊखल, धनि माखन-प्यारे
दीन-बंधु करुना-निधि हौ प्रभु, राखि लेहु हम सरन तिहारे।
सूर स्यामकैं चरन सीस धरि, अस्तुति करि निज धाम सिधारे ॥

व्यथित मनसे

यदि तुझे जगमें विश्वास किसीपर नहीं,
जगत-पितापर विश्वास कर मन रे !
यदि तुझे पग-पग जगमें निराशा मिली,
जगत-नियन्तापर आश कर मन रे !!
यदि तेरे आस-पास कृष्ण-पक्ष बारहमास,
कृष्ण-चन्द्रका प्रकाश भास कर मन रे !
जगत आनन्द-धाम व्यापक आनन्द-कन्द,
अपनेको व्यर्थ न उदास कर मन रे !!

—लाला जगदलपुरी

परमार्थ-पत्रावली

(श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

(१)

सादर ॐ नमो नारायण । आपका कृपापत्र कल्याण-सम्पादकके नाम आया था । उन्होंने आपके द्वारा किये गये प्रश्नोंका मेरे लेखसे सम्बन्ध होनेके कारण उसे मेरे पास भेज दिया । अतः जैसा कुछ समझमें आया, वैसा अपना मन्तव्य आपकी सेवामें भेजा जाता है । वैसे तो आप-जैसे पूज्य जनोंके समक्ष इन विषयोंपर कुछ निवेदन करना मेरे लिये धृष्टता ही है; किंतु आपकी आज्ञाको शिरोधार्य कर कुछ निवेदन किया जाता है । उत्तर भिजवानेमें शरीरकी अस्वस्थता तथा कार्यकी अधिकताके कारण विलम्ब हो गया; आशा है, इसके लिये आप क्षमा करेंगे ।

× × ×

प्रश्न—यदि जीव नाना हैं तो एक ब्रह्मके साथ एकता कैसे होगी ?

उत्तर—इसका उत्तर यह है कि जीवोंका नानात्व मायाके सम्बन्धसे है, वास्तविक नहीं है । माया नाम अविद्याका है और विद्याके द्वारा उसका नाश हो जानेपर जीव, जो कि ब्रह्मका ही अंश है—'ममैवांशो जीवलोके' (गीता १५ । ७), अपने अंशी ब्रह्ममें मिल जाता है । जिस प्रकार घटके फूट जानेपर घटाकाश, जो कि महाकाशका ही अंश है, महाकाशके साथ मिलकर एक हो जाता है, उसी प्रकार समझना चाहिये ।

प्रश्न—यदि जीव असंख्य हैं तो धर्मराज या ईश्वर कैसे न्याय करेंगे ?

उत्तर—जीव असंख्य होनेपर भी न्यायकारी ईश्वरके लिये उनका न्याय करना असंभव नहीं है; क्योंकि ईश्वर सर्वसमर्थ हैं, वे असम्भवको भी सम्भव कर सकते हैं; फिर यह बात तो उनके लिये असम्भव भी क्या है ? सब जीवोंका न्याय वे स्वयं कर सकते हैं या धर्मराज आदिके द्वारा करवा भी सकते हैं ।

प्रश्न—अनादित्व और सान्तत्व परस्परविरोधी धर्म हैं । इसलिये यदि मायाको अनादि एवं सान्त माना जाय तो इन दो परस्परविरोधी धर्मोंका समानाधिकरण कैसे होगा ? क्योंकि जो वस्तु अनादि होगी, वह सान्त नहीं हो सकती ।

उत्तर—जीवके साथ मायाका सम्बन्ध अनादि होनेपर भी अन्तवाला है; क्योंकि माया नाम अविद्याका है और वह अविद्या वस्तुतः कोई चीज नहीं है । वह तो भूल है अर्थात् बिना हुए ही प्रतीत होती है । यदि अविद्या वास्तवमें कोई चीज होती तो यह कहना युक्तिसंगत होता कि वह अनादि होनेपर सान्त नहीं हो सकती; परंतु जब वह कोई चीज ही नहीं, तो उसका अनादित्व भी वैसा ही है । ऐसे अनादित्वके साथ सान्तत्वका कोई विरोध नहीं हो सकता ।

प्रश्न—यदि जीव परमात्माका अंश होनेके नाते परमात्माका स्वरूप ही है तो फिर जीव और परमात्मामें प्रापक-प्राप्य-भाव-सम्बन्ध नहीं हो सकता; क्योंकि प्राप्य-प्रापक-भाव-सम्बन्ध भिन्न वस्तुओंमें ही सम्भव है ।

उत्तर—ठीक है, वास्तवमें जीव और परमात्मा अभिन्न होनेके कारण उनमें प्राप्य-प्रापक-भाव-सम्बन्ध नहीं है । जो जीव अपनेको परमात्मासे पृथक् मानते हैं, उन्हींको समझानेके लिये परमात्माको प्राप्त करनेकी बात कही जाती है । यों तो जीव सदा परमात्माको प्राप्त ही है; किंतु प्राप्त हुआ भी वह अपनेको अप्राप्त मानता है, इस भूलको मिटानेके लिये ही शास्त्रमें परमात्माको प्राप्त करनेकी बात कही गयी है ।

प्रश्न—अज्ञानका नाश होता है, यह कैसे जाना जाय, क्योंकि श्रुतिने प्रकृतिको 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्' आदि कहकर अनादि बतलाया है?

उत्तर—श्रुतिमें जो प्रकृतिको 'अजामेकाम्' आदि नामोंसे पुकारा है सो ठीक ही है। योगसूत्रमें भी कहा है—'कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्।' (२।२२) अर्थात् अविद्यारूपी माया कृतार्थ (जीवन्मुक्त) के प्रति नष्ट हुई भी अन्य सबके प्रति साधारण होनेसे अनष्ट ही है।

गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने भी कहा है—'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।' (१३।१९)—'प्रकृति और पुरुष—इन दोनोंको ही तू अनादि जान।' परंतु साथ ही भगवान्ने ज्ञानके द्वारा इसका नाश भी बतलाया है—

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥
(गीता ५।१६)

'परंतु जिनका वह अज्ञान परमात्माके तत्त्वज्ञानद्वारा नष्ट कर दिया गया है, उनका वह ज्ञान सूर्यके सदृश उस सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्रकाशित कर देता है।'

ज्ञान अथवा विद्या बुद्धिका कार्य है। माया अर्थात् अविद्याके शान्त हो जानेपर उस मायासे उत्पन्न हुई बुद्धि भी शान्त हो जाती है। ऐसी दशामें उसका कार्य ज्ञान बिना आधारके ठहर नहीं सकता। तब केवल एक चेतन विज्ञानानन्दघन परमात्मा ही रह जाता है। योगदर्शनमें भी कहा है—

तदभावात्संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम्।
(२।२५)

अर्थात् उस अविद्याके अभावसे प्रकृति-पुरुषके संयोगका अभाव हो जाता है; उसीका नाम 'हान' है और वही द्रष्टाकी कैवल्य-अवस्था है। जैसे दियासलाईसे उत्पन्न हुई अग्नि दियासलाईके काठको भस्म करके स्वयं भी शान्त हो जाती है, इसी प्रकार शुद्ध बुद्धिसे उत्पन्न हुआ ज्ञान सम्पूर्ण कार्यसहित मायाको शान्त करता हुआ स्वयं भी शान्त हो जाता है। तदनन्तर केवल एक शुद्ध चेतन ही बच जाता है। किमधिकं विज्ञेषु।

(२)

आपका लक्ष्मी-पूजनका पत्र मिला। मैं आसामकी तरफ गया हुआ था, इससे जवाब देनेमें विलम्ब हुआ। आपने लिखा कि संसार तथा शरीरमें आसक्ति बहुत होनेके कारण मन भगवान्में नहीं लगता, निरन्तर भगवच्चरणारविन्दोंमें चित्त लगे ऐसा उपाय लिखना चाहिये, सो ठीक है। भगवान्में अनन्य प्रेम होनेपर ही चित्त निरन्तर भगवान्में लग सकता है। इसके लिये श्रद्धाकी आवश्यकता है। भगवद्भक्तोंके द्वारा भगवान्के गुण-प्रभावकी कथा सुननेसे श्रद्धा बढ़ सकती है। इसके लिये सत्संग करनेकी कोशिश करनी चाहिये। तथा भगवान्के नाम-जपके अभ्याससे और वैराग्यसे भी मन वशमें हो सकता है। गीतामें कहा है—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥
(६।३५)

'हे महाबाहो! निःसन्देह मन चञ्चल और कठिनतासे वशमें होनेवाला है; परंतु हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! यह अभ्यास और वैराग्यसे वशमें होता है।'

योगदर्शनमें भी कहा है—

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः (१।१२)

'अभ्यास और वैराग्यसे चित्तवृत्तियोंका निरोध होता है।'

शरीर और संसारको क्षणभङ्गुर समझनेसे एवं संपूर्ण पदार्थोंमें दुःख और दोष-दृष्टि करनेसे वैराग्य होता है। तथा भजन-ध्यानके लिये अभ्यास करनेसे अन्तःकरण

शुद्ध होता है; तब स्वतः ही वैराग्य उत्पन्न हो जाता है।

आपने लिखा कि—

लोलुप भ्रमत गृहपशु ज्यौं जहँ तहँ, सिर पद-त्रान बजै।
तदपि अधम बिचरत तेहि मारग, कबहुँ न मूढ़ लजै॥

सो ठीक है; किंतु वास्तवमें सिरपर चोट लगी समझते नहीं हैं, केवल कथनमात्र ही करते हैं। इसीसे कुपथ्यका त्याग नहीं करते।

'आपने—

'यह मन नेक न कह्यौ करै।
सीख सिखाय रह्यौ अपनी-सी दुर्मति ते न टरै।'

—उद्धृत किया सो ठीक है। अच्छी प्रकार समझनेसे दुर्मतिका त्याग होकर मन वशमें हो सकता है; किंतु विवेककी विशेष आवश्यकता है।

आपने लिखा कि—

'हौं हारयौ करि जतन बिबिध बिधि, अतिसै प्रबल अजै।'

सो ठीक है, किंतु मनमें हार मानकर निराश नहीं होना चाहिये। कटिबद्ध होकर भजन-ध्यान करनेके लिये विशेष चेष्टा करनी चाहिये। सच्चे दिलसे प्रभुकी शरण होनी चाहिये, फिर उसकी कृपासे सब कुछ सहजमें ही बन सकता है। मुझे कृपा, दया, प्रार्थना आदि शब्द नहीं लिखने चाहिये। परमात्माके शरण होकर उनसे सच्चे हृदयसे विनययुक्त प्रार्थना करनी चाहिये। सच्चे हृदयकी पुकार उनके दरबारमें शीघ्र पहुँचती है।

× × ×

(३)

आपके पिताजीका देहान्त हो गया, यह शोकका विषय है। परंतु यह निरुपाय बात है। बाल-बच्चोंको तथा अपने मनको धैर्य देकर ईश्वरकी शरण लेनी चाहिये। वही दीन-दुखियोंका एकमात्र आश्रय है। यद्यपि निष्कामभावसे भगवान्‌की भक्ति करना सर्वोत्तम है; किंतु आपत्तिकालके निवारणके लिये प्रार्थना की गयी, सो कोई हर्ज नहीं, भविष्यमें विशेष ख्याल रखना चाहिये। मनुष्यको सङ्कटमें डालकर भगवान् जो परीक्षा करते हैं, यह बड़ा उपकार करते हैं; इससे पूर्वके पापोंका क्षय होता है और धीरता, वीरता, गम्भीरताकी वृद्धि होती है। × × ×।

श्रीशिव और श्रीविष्णुमें कोई भेद नहीं है। विज्ञानानन्दघन परमात्मा ही श्रीशिव और श्रीविष्णुके रूपमें प्रकट होते हैं। अतएव किसीकी भी भक्ति की जाय, वह परमेश्वरकी ही भक्ति है। आपके यहाँ 'कल्याण' जाता होगा, आठवें वर्षके विशेषाङ्क 'शिवाङ्क' में मेरा लेख देख सकते हैं, उसमें इस विषयका स्पष्टतया उल्लेख किया गया है। श्रीशिवजी महाराज भगवान् श्रीराम, श्रीकृष्ण और श्रीविष्णुके पुजारी हैं; किंतु श्रीराम, श्रीकृष्ण एवं श्रीविष्णु भगवान् श्रीशिवके कम पुजारी नहीं हैं। अतएव पुजारीके रूपमें दोनों तुल्य ही हैं।

रुद्र ग्यारह अवश्य हैं। उनमें शङ्कर नामक रुद्र ही भगवान् शिवजी हैं, बाकी सब रुद्र उन्हींकी मूर्तियाँ यानी अंश हैं। अतएव श्रीशङ्करमें आपका श्रद्धा-विश्वास एवं प्रेम कम नहीं होना चाहिये। यदि आपका मन श्रीराम, श्रीकृष्ण या श्रीविष्णुकी तरफ हो तो आप उनका ही जप-ध्यान कर सकते हैं, कोई हर्जकी बात नहीं है; क्योंकि स्वयं परमेश्वर ही श्रीराम, श्रीकृष्ण, श्रीविष्णु, श्रीशिव आदिके रूपमें प्रकट होते हैं। आप कभी शिव-शिव, कभी राधा-कृष्ण, राधा-कृष्ण और कभी राम-राम जपते हैं, इसमें भी कोई हर्ज नहीं है। परंतु एक ही नाम-रूपका जप-ध्यान और भी विशेष लाभदायक है। इसलिये एक ही नाम-रूपके जप-ध्यान करनेकी दृढ़ता रखनी चाहिये। 'श्रीराम-राम' जपना अच्छा लगता हो तो श्रीरामचन्द्रजीका ध्यान करना चाहिये। श्रीविष्णुभगवान्‌के ध्यानकी इच्छा हो तो 'नारायण-नारायण' जपना उत्तम है। इसी प्रकार 'शिव'

नामका जप करनेमें श्रीशिवका ध्यान और 'कृष्ण' नामका जप करनेमें श्रीकृष्णका ध्यान करना विशेष लाभप्रद है। नाम श्रीराम-श्रीकृष्णका जपा जाय और ध्यान चतुर्भुजमूर्ति श्रीविष्णुका किया जाय तो भी कुछ आपत्ति नहीं है; क्योंकि राम और कृष्ण श्रीविष्णु-भगवान्के ही नाम हैं। महाभारत आदि ग्रन्थोंमें इसका जगह-जगह प्रमाण मिलता है नाम 'नारायण' 'नारायण' जपा जाय और ध्यान श्रीराम या श्रीकृष्णका किया जाय तो भी कोई हर्ज नहीं है; क्योंकि श्रीनारायणदेव स्वयं ही तो श्रीराम और श्रीकृष्णके रूपमें प्रकट हुए हैं; किंतु जिसके नामका जप किया जाय, उसीके स्वरूपका ध्यान करना विशेष लाभप्रद है। अतएव आपकी जैसी रुचि हो, वैसा कर सकते हैं। इस विषयमें मेरी राय चाहते हैं सो यह आपके प्रेमकी बात है। आपकी जिस नाम और रूपमें रुचि हो, उसी नामका जप और स्वरूपका ध्यान करनेकी ही मेरी राय है। आपने मेरी रायके अनुसार चलनेको लिखा सो यह आपकी दया, विश्वास और प्रेमकी बात है।

आपने लिखा कि ऐसी युक्ति बतलाइये जिससे मेरी ये शङ्काएँ दूर हो जायँ, घड़ी-घड़ीमें एक भगवान्को दूसरेसे अच्छा और लाभदायक मानना बंद हो जाय और भगवान्के एक ही स्वरूपमें विश्वास हो जाय सो ठीक है, इसका उत्तर इस पत्रमें ऊपर आ चुका है।

आपने पूछा कि भगवान् विष्णुने प्रत्यक्ष दर्शन दिये, ऐसी तो बहुत-सी कथाएँ मिलती हैं; क्या भगवान् शिवके विषयमें भी ऐसी कथाएँ मिलती हैं कि उन्होंने दर्शन दिये, सो ठीक है। भगवान् शिवके विषयमें भी महाभारत, शिवपुराण आदिमें अश्वत्थामा, मार्कण्डेय, गिरिजा, नन्दीश्वर, बाणासुर-प्रभृति बहुत-से भक्तोंको प्रत्यक्ष दर्शन देनेकी कथाएँ मिलती हैं। श्रीशिवजी इतने उदार हैं कि रावण, भस्मासुर आदि राक्षसोंको भी उन्होंने प्रत्यक्ष दर्शन दिया था। × × ×।

हमारे पत्रको आप विशेष आदरसे रखते हैं और प्रेमसे पढ़ते हैं तथा पढ़नेपर आपको प्रेम एवं रोमाञ्च आदि होते हैं—यह आपकी दया और विश्वास है, इसके लिये मैं आपका आभारी हूँ।

(४)

तुम्हारा पत्र आया नहीं, हम भी नहीं दे पाये। तुम्हारे पिताजीका शरीर शान्त होनेके बाद तुमलोगोंके ऋषिकेश जानेका भी अनुमान नहीं होता। तथा तुम्हारे द्वारा और भी कोई अच्छे काम देखनेमें कम ही आते हैं। भजन-ध्यान और शास्त्रोंका अभ्यास भी कम हो गया एवं सत्सङ्गमें भी प्रेम कम मालूम होता है। शरीर और रुपयोंमें प्रेम अधिक मालूम होता है; किंतु इससे कुछ भी लाभ प्रतीत नहीं होता। सुनते हैं, तुम्हारे शरीरके लिये भी पथ्य-परहेज नहीं है। स्वादके वश होकर कुपथ्य करके बीमारीका साधन करना उचित नहीं है। भगवान्के भजन-ध्यानमें प्रेम करना चाहिये। हमको भूल भी जाओ तो कोई हर्ज नहीं है; किंतु भगवान्को नहीं भूलना चाहिये। भगवान्के सिवा तुम्हारा कोई नहीं है। शरीर भी अचानक एक दिन नाश हो जानेवाला है। जब शरीर भी साथ नहीं जायगा तो दूसरेकी तो बात ही कौन है। फिर तुम किसलिये पागलके समान होकर उस प्रेमी निष्कामी भगवान्को भूल रहे हो? इस समय भी यदि तुम नहीं चेतोगे तो पीछे कौन चेतावेगा। ऐसा मौका भी बार-बार मिलना बहुत मुश्किल है। समय बीता जा रहा है। जल्दी चेतना चाहिये। अबकी बार ऋषिकेशमें सत्सङ्ग बहुत ठीक हुआ। आगे ऋषिकेशमें तुम्हारा ध्यान लगा था, उसी प्रकार ध्यानकी कोशिश करनी चाहिये।

(५)

आपने लिखा कि हमारे पिताजी हमारे साथ ठीक बर्ताव नहीं करते—सो आपको हमारा कहना मानकर

नित्य उनके चरणोंमें पड़ना चाहिये तथा उनके शरीरकी यथासाध्य सेवा करनी चाहिये। उनकी आज्ञाका पालन करना चाहिये, फिर उनका आपके साथ बहुत प्रेमका बर्ताव हो सकता है, ऐसा हमें विश्वास है। आपके सेवाभावकी कमीके कारण उनके बर्तावमें दोष आ सकता है, और कोई भी कारण नहीं है। आपको पहले अपना बर्ताव सुधारना चाहिये, पीछे उनका आप ही सुधार हो सकता है तथा घरवालोंकी तरफसे सुख चाहते हैं तो उनके साथ प्रेमका बर्ताव और उनकी सेवा करनी चाहिये।

एक बात और भी आपको कही थी, वह याद होगी। उसे काममें लाना चाहिये। ब्रह्मचर्यका व्रत दृढ रखना चाहिये। दूसरी स्त्रियोंको माताके समान समझना चाहिये। अपने भाईसे बहुत प्रेम रखना चाहिये। उसका उपकार हो, ऐसी चेष्टा रखनी चाहिये। आप उसका उपकार करेंगे, तब वह आपका बिगाड़ कभी नहीं कर सकता।

(६)

साधन तेज होनेमें भगवान्‌की दयाको हेतु समझकर अभ्यास करना चाहिये। भोगोंसे वैराग्य करना चाहिये। विदेशी कपड़ा पहनना तुमने छोड़ दिया होगा। भजन-ध्यान तेज हो, इसके लिये विशेषरूपसे प्रयत्न करना चाहिये। समय बीता जा रहा है। एक पलक भी वृथा खोना उचित नहीं है। ऐसा मौका मिलना बहुत मुश्किल है। समयको अमोलक समझकर दिनों-दिन उसे ऊँचे काममें बिताना चाहिये।

गीता और सनातनधर्म

(एक महात्मा)

इस समय संसारभरमें क्रान्तिकी लहर उठ रही है। संसारका स्वरूप ही बदल रहा है। उस क्रान्तिकी एक हिलोर भारतद्वीप (हिंदुस्थान) में भी आ गयी है और यहाँ भी राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक, साहित्यिक आदि सभी क्षेत्रोंमें क्रान्तिके लक्षण दिखायी दे रहे हैं, जिसके परिणामस्वरूप चारों ओर दुःख-ही-दुःख छा रहा है। ऐसी अवस्थामें मानव-जातिको शान्ति-सुखका मार्ग दिखानेवाला यदि कोई ग्रन्थ है तो वह श्रीमद्भगवद्गीता है। यह एक ही ऐसा सर्वमान्य ग्रन्थ है, जिसमें मनुष्य-जीवनको सफल बनानेवाले सब विषय सन्निविष्ट हो गये हैं। इसके सम्बन्धमें किसीका मतभेद नहीं है और सब प्रकारके अधिकारियोंका चित्त यह अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। सनातन धर्म जो नित्य और जीवमात्रका कल्याणकारी धर्म है। उसके तो सब अङ्गोंका बीज इसमें निहित है। सन्तोषका विषय है कि हिंदके वर्तमान प्रधानमन्त्री पं० नेहरूजीने स्वीकार किया है कि वे गीताके सिद्धान्तोंको मानते और गीताका आदर करते हैं। जब कि वे गीताको मानते हैं तब उन्हें सनातन धर्मके सिद्धान्तोंको मानना ही होगा; क्योंकि सनातन धर्मकी ही सब बातें गीतामें ग्रथित हैं। यह कहा जाय, तो अत्युक्ति नहीं होगी कि संसारमें जो कुछ तत्त्व-ज्ञान है, वह सब गीतामें विद्यमान है और जो गीतामें नहीं है, वह कहीं भी नहीं है। भारतवर्षके वर्तमान गवर्नर-जनरल श्रीचक्रवर्तीजी भी ब्राह्मण हैं, आस्तिक हैं और गीताके प्रेमी हैं। इस समय क्रान्तिकी लहरसे जो सब क्षेत्रोंमें उलझनें पड़ गयी हैं, उनके सुलझानेमें गीता परम सहायक हो सकती है। अतः इसका सर्वत्र जोरोंसे प्रचार होना आवश्यक है। यह कार्य पुस्तक-प्रकाशन और व्याख्यानोंद्वारा किया जा सकता है; परंतु यदि स्कूल-कालेजोंमें अनिवार्यरूपसे पाठ्य-पुस्तकोंमें गीताको स्थान दिया जाय तो उसका प्रभाव स्थायी रहेगा और भावी पीढ़ी अपने लक्ष्यपर डटी रहेगी। लक्ष्यभ्रष्ट नहीं होगी। गीतामें सनातन धर्मके सब विषय किस प्रकार आ गये हैं, इसका कुछ दिग्दर्शन यहाँ कर देना उचित जान पड़ता है।

गीताका सर्वप्रधान सिद्धान्त है—ईश्वर और परलोकमें विश्वास। जो व्यक्ति ईश्वर और परलोकको माने, वही आस्तिक है। जो गीताको मानते हैं, उन्हें ईश्वर और परलोकको मानना ही होगा। जो इन दो बातोंको मानेगा—वह पाप-पुण्य, जन्मान्तर, त्रिगुण, त्रिभाव, वर्णाश्रम आदि सनातन-

धर्मके मौलिक अङ्गोंको भी मानेगा; क्योंकि विश्व-व्यापक धर्मका प्रतीक है गीता।

मनुष्यको सबसे पहले जाननेयोग्य यदि कोई तत्त्व है, तो वह ईश्वर-तत्त्व है। श्रुतिका भी यही सिद्धान्त है कि इसके जान लेनेसे सब कुछ जान लिया जा सकता है। ईश्वर-तत्त्वको गीताने जैसा समझाया है, वैसा अन्यत्र कहीं देखनेमें नहीं आयगा। गीतोपनिषद्में श्रीभगवान् आज्ञा करते हैं—

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः॥
(८।३)

'जो परम अक्षर है अर्थात् जिसका कभी क्षय नहीं होता है, वही ब्रह्म है और उनका स्वभाव सच्चिदानन्दमय है। यह श्रुति-स्मृति सबके द्वारा सिद्ध है। उस सच्चिदानन्दमय स्वभावका भूतोंकी उत्पत्तिके लिये जो त्याग कराता है, वही कर्म कहाता है।'

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर॥
(गीता ८।४)

जो क्षर (परिवर्तनशील और नाश होनेवाला) भाव है वह अधिभूत है और पुरुष अधिदैव है। देहधारी जीवोंके देहोंमें मैं ही अधियज्ञरूपसे प्रतिष्ठित हूँ। श्रीभगवान्के इन वचनोंका तात्पर्य यह है कि सच्चिदानन्दस्वभाव, निर्गुण-निराकार, सदा एकरस रहनेवाला भगवान्का जो अक्षर भाव है, वही ब्रह्मभाव कहलाता है। उनकी त्रिगुणमयी प्रकृति जब कर्मके द्वारा परिणामिनी होकर पिण्ड ब्रह्माण्डरूपी सृष्टि प्रकट करती है, तब उस परिणामशील विराट् मूर्तिधारीका नाम अधिभूत होता है और द्रष्टा-दृश्यात्मक जो भगवान्का सगुणभाव है, वह अधिदैव भाव है। सगुण ब्रह्म नाम इसी अधिदैव भावका है। वे ही सृष्टिकर्ता भगवान् ब्रह्मा, स्थितिकर्ता विष्णु और संहारकर्ता शिवके रूपमें प्रत्येक ब्रह्माण्डका सृष्टि-स्थिति-लय-कार्य किया करते हैं। श्रीभगवान्के ही अंशरूपसे पुरुष भावापन्न वसुगण, रुद्रगण, आदित्यगण, कर्मके नियन्ता यम धर्मराज आदि सब देवपदधारी परम पुरुष सगुणरूपके अङ्गभूत होकर—अपने-अपने कार्य-क्षेत्रमें पुरुष कहाते हैं, इसीसे सांख्य-दर्शनने बहु पुरुष माने हैं। इस पुरुषभावका यहाँतक विस्तार है कि वह भाव सब पिण्डोंके द्रष्टासे सम्बन्ध रखता है। यदि मनुष्य अपने पिण्डका द्रष्टा है तो वह पुरुष है और चतुर्विध भूतसङ्घोंके रक्षक और सञ्चालक जो अलग-अलग देवता हैं, वे भी पुरुष कहलाते हैं; क्योंकि वे जीव असम्पूर्ण हैं। रक्षक देवताओंके बिना उनका अस्तित्व रह नहीं सकता। यही सब पुरुषोत्तमरूपी भगवान्के पुरुषभावका विस्तार है और प्रत्येक मनुष्यपिण्डमें जो सच्चिदानन्दरूपी उनकी चेतन सत्ता ओतप्रोतरूपसे विद्यमान है, वही भगवान्का अधियज्ञरूप है। जिस ज्ञानवान् मनुष्यकी कुछ भी दार्शनिक बुद्धि होगी, वह भगवान्के अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूत और अधियज्ञभावको जानकर कृतकृत्य हो जायगा। इस प्रकारका सूक्ष्म विवेचन गीताको छोड़कर अन्यत्र कहीं नहीं पाया जाता। धर्मके सब अङ्गोंका विवेचन करनेवाले और भगवान्के स्वरूपके निदर्शक गीताशास्त्रको जो हृदयङ्गम करेगा उसके लिये नास्तिकताका अवकाश ही नहीं रह जायगा।

हिंदू-संस्कृतिमें परलोकवादका रहस्य बहुत ही विस्तारसे पाया जाता है। हमारे वेद-पुराण और तन्त्र आदि शास्त्र एक वाक्य होकर यह सिद्ध करते हैं कि हमारा यह स्थूल मृत्युलोक सूक्ष्म दैवी राज्यकी सहायतासे ही स्थित है और दैवी सहायतासे ही इसके समस्त कर्मोंकी निष्पत्ति होती है। समष्टि और व्यष्टि अर्थात् ब्रह्माण्ड और पिण्डका समस्त सृष्टि-स्थिति-लय कार्य दैवी सहायतासे ही हुआ करता है। जैसे एक साम्राज्य चलानेके लिये नाना प्रकारके विभाग और उनके अधिकारी होते हैं, वैसे ही दैवी राज्यके भी अनेक विभाग और पदधारी देवता हैं। ज्ञान-राज्यरूपी अध्यात्मराज्यके सञ्चालक ऋषिगण हैं। कर्मरूपी अधिदैवराज्यके सञ्चालक नाना श्रेणीके देवता हैं। और स्थूल शरीररूपी अधिभूत-राज्यके सञ्चालक नित्य पितर होते हैं, जो एक प्रकारके देवता हैं। इस दैवी शृङ्खलाका पूरा प्रमाण गीतामें मिलता है। विभूतियोग अध्यायमें लिखा है कि 'वसूनां पावकश्चास्मि' अर्थात् 'मैं वसुओंमें पावक हूँ।' प्रधान वसु आठ हैं। उनके नाम वेद और शास्त्रोंमें पाये जाते हैं। उन आठोंमें पावककी प्रधानता मानी जाती है। उनके मृत्युलोकमें अवतार भी हुआ करते हैं जैसा कि महाभारतमें लिखा है कि भीष्मपितामह वसुओंमेंसे ही एकके अवतार थे। इसी अध्यायमें लिखा है कि मैं एकादश रुद्रोंमें शङ्कर हूँ। मैं द्वादश आदित्योंमें विष्णु हूँ। यथा—'रुद्राणां शङ्करश्चास्मि', 'आदित्यानामहं विष्णुः।' इसी प्रकार कर्मके नियन्ताओंमें मैं यम हूँ और मैं नित्य पितरोंमें अर्यमा हूँ। यथा—

'पितॄणामर्यमा चास्मि' 'यमः संयमतामहम्।'

'सब जलके अधिष्ठाता देवताओंमें वरुण हूँ।'

'वरुणो यादसामहम् ।'

'मैं देवर्षियोंमें नारद और गन्धर्व-श्रेणीके देवताओंमें चित्ररथ हूँ।'

'देवर्षीणां च नारदः' 'गन्धर्वाणां चित्ररथः ।'

'मैं महर्षियोंमें भृगु हूँ।'

'महर्षीणां भृगुरहम् ।'

'यक्ष-राक्षसोंकी देवयोनियोंमें मैं कुबेर हूँ।'

'वित्तेशो यक्षरक्षसामहम् ।'

'देवोंके सेनानियोंमें मैं स्कन्द हूँ।'

'सेनानीनामहं स्कन्दः ।'

'वेगवान् पदार्थोंमें वायुके अधिष्ठातृदेवताके रूपमें मैं वायुदेव हूँ।'

'पवनः पवतामस्मि ।'

इन वचनोंसे दैवी राज्यके उच्चपदधारी जो देवता हैं, उनकी अच्छी तरहसे सिद्धि होती है और साथ-ही-साथ दैवी शृङ्खला (आर्गनिजेशन) की भी अच्छी तरहसे सिद्धि होती है।

वर्णाश्रम-शृङ्खला माननेवाली सनातनधर्मी प्रजाका धर्म सोलह अङ्गोंमें विभक्त है । उन सोलहों अङ्गोंका बीज श्रीमद्भगवद्गीतामें पाया जाता है । रजोवीर्यकी शुद्धि रखनेवाले वर्णधर्मका मूल स्त्रियोंका सतीत्वधर्म है । उस सतीत्वधर्मके विषयमें, जातिधर्मके विषयमें, कुलधर्मके विषयमें, श्राद्ध-पिण्डदान आदिके विषयमें श्रीमद्भगवद्गीतामें अनेक प्रमाण हैं। यथा—

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥
(३ । २४)

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥
संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥
दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥
उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥
(१ । ४१-४४)

इन श्लोकोंके द्वारा श्रीभगवान् कृष्णचन्द्र आज्ञा करते हैं कि यदि मैं कर्म न करूँ तो ये सब लोक उच्छिन्न हो जायँगे, मैं सङ्करका कर्ता बनूँगा और इस सारी प्रजाका नाश कर डालूँगा, अर्थात् स्त्रियोंके सतीत्वकी रक्षाके लिये श्रीभगवान्‌को भी कर्म करना पड़ता है । सतीत्वके नष्ट होनेसे संकर-सृष्टि होती है और संकर-सृष्टि होनेसे कैसा अनर्थ होता है, इस विषयमें गीता कहती है—'अधर्मके बढ़ जानेसे कुलस्त्रियाँ बिगड़ जाती, दूषित हो जाती हैं। स्त्रियोंके सतीत्वसे भ्रष्ट हो जानेसे वर्णसङ्कर-सृष्टि होती है । यह सङ्कर-सृष्टि कुल और कुलघातकी—दोनोंको नरकमें ले जाती है । पिण्ड और पानीके न मिलनेसे उनके पितरोंका पतन होता है । शाश्वत (सनातन) जातिधर्म और कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं और जब मनुष्योंके कुलधर्म ही नष्ट हो जाते हैं, तब उन्हें चिरकाल-तक नरकमें पचना पड़ता है ।

जन्मान्तर-वादके विषयमें गीताके दूसरे अध्यायमें बहुत कुछ स्पष्ट वर्णन है । इस स्थूल-शरीरके नाश होनेपर सूक्ष्म-शरीर और कारण-शरीर लोकान्तरमें चला जाता है । स्थूल-शरीर यहाँ ही पड़ा रहता है, जिसको मृत देह कहते हैं। उस समयकी सूक्ष्म-शरीरकी अवस्थाको लेकर चार प्रकारकी गतिका वर्णन मीमांसाशास्त्रने किया है। १—देवयान, २—पितृयान, ३—ऐशगति, ४—सहजगति । पहली देवयान अर्थात् शुक्लगति उसको कहते हैं, जिसमें मुक्त आत्मा सूर्यमण्डलका भेदन कर आगे बढ़कर मुक्त हो जाते हैं । दूसरी पितृयान अर्थात् कृष्णगति, जिसमें साधारण अधिकारके जीव चन्द्रलोकतक जाते हैं और फिर लौटकर इसी मृत्युलोकमें आ जाते हैं। तीसरी ऐशगति, जिसके द्वारा उन्नत देवता होनेयोग्य उन्नत आत्मा देवलोकके देवता बन जाते और देवलोकके नियमानुसार आगे बढ़ते हैं । जैसे—नन्दिकेश्वर, बलि, हनूमान् इत्यादि । चौथी सहजगति, इसमें जीवन्मुक्त महात्मा यहीं शरीर छोड़ते समय ब्रह्मपदमें विलीन हो जाते हैं । इन चार प्रकारकी गतियोंमेंसे दो गतियोंका गीताशास्त्रमें अच्छी तरहसे वर्णन किया है । यथा—अध्याय ८ श्लोक २४ से २७ तकमें वर्णन है कि कृष्ण-शुक्लगतियोंमें जीव किस प्रकार आगे बढ़ता है—

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥
धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽऽवर्तते पुनः ॥
(८ । २४-२६)

इस प्रकारसे स्त्रियोंके सतीत्व-धर्मकी महिमा और आवश्यकता तथा वर्णधर्मके मूलका सतीत्व-धर्मसे कैसा सम्बन्ध है एवं श्राद्धपिण्डका आर्य-जातिमें कैसा महत्त्व माना गया है। जन्मान्तरवादविज्ञान—परलोकमें जीवकी कैसी गति होती है और उस अवस्थामें सहायता देनेकी कैसी आवश्यकता होती है, और पिण्डदान, श्राद्धदायभाग आदिके द्वारा कैसे सहायता दी जा सकती है, इसका सब मौलिक विज्ञान गीतामें विद्यमान है।

महान् कालके विषयमें, जिसका वर्णन आर्यगण अपने नित्यके पूजा-सन्ध्यादिके सङ्कल्पमें उल्लेख करते हैं, भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें इस प्रकार वर्णन किया है—

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥
अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥
(८ । १७-१८)

अर्थात् एक सहस्र चौकड़ी युगका ब्रह्माका एक दिन होता है और इतनी ही रात्रि होती है। दिन होनेपर अव्यक्तसे सब कुछ व्यक्त हो जाता है और रात्रिमें सब व्यक्त फिर अव्यक्तमें लीन हो जाता है। यह कालका जो माप कहा गया है, वह देवताओंके हिसाबसे है। ज्यौतिष और पुराणशास्त्रके अनुसार दैवीकाल और मानुषकालका अन्तर निकालनेपर इस प्रकार होता है—४३२००० मनुष्योंके वर्षोंका एक कलियुग होता है। कलियुगसे दूने वर्षोंका द्वापर, तिगुने मानववर्षोंका त्रेता और चौगुने मानववर्षोंका सत्ययुग होता है। इन चारों युगोंको एक साथ जोड़नेसे जो संख्या होती है, उसको महायुग कहते हैं। ऐसे ७१ महायुगोंका एक मन्वन्तर होता है। अर्थात् ३०६७२०००० मानव-वर्षोंका एक मन्वन्तर होता है। प्रत्येक मन्वन्तरमें सृष्टि-कर्ता भगवान् ब्रह्मा, स्थितिकर्ता भगवान् विष्णु और संहार-कर्ता भगवान् शिवके अतिरिक्त देवलोकके सञ्चालक सब देवपदधारी बदल जाते हैं। जैसे मृत्युलोकमें जब राजा या राष्ट्रपतिका परिवर्तन होता है, तब उसीके साथ सब पदधारी बदल जाते हैं। वैसे ही प्रत्येक मन्वन्तरमें सब देवसङ्घ, ऋषिसङ्घ और पितृसङ्घ बदल जाते हैं। हमारे पूज्य प्राचीन महर्षि त्रिकालज्ञ थे। सृष्टिके आरम्भसे अबतक जितने मन्वन्तर हो गये हैं और भविष्यमें जितने होंगे, उनका उन्होंने मार्कण्डेय आदि पुराणोंमें विस्तारसे उल्लेख कर दिया है। इस कारण पुराणादिमें भूतकालका तो विवरण है ही, किंतु भविष्यका भी विवरण पाया जाता है। ऐसे चौदह मन्वन्तर हो जानेपर अर्थात् १४ मनुके बदल जानेपर जो समय होता है, उसे कल्प कहते हैं और ऐसा एक कल्प ब्रह्माका एक दिन माना गया है। हिंदू-जातिके ज्यौतिष तथा वेदशास्त्रोंमें जो गणना पायी जाती है, उसके अनुसार सृष्टिकर्ता भगवान् ब्रह्मा मानवकालके अनुरूप १०० वर्षकी आयु बीत जानेपर ब्रह्ममें लीन हो जाते हैं। और उनके स्थानमें दूसरे ब्रह्मा आ जाते हैं। हमारे शास्त्रोंका यह चमत्कार है कि प्रत्येक आर्य व्यक्ति अपने नित्यके सङ्कल्पमें इस विशाल ब्रह्माण्डका स्वरूप और कालको आँखोंके सामने रखकर सङ्कल्पमन्त्र पढ़ते हैं; परंतु खेद है कि कालप्रभावसे इस ओर किसीकी दृष्टि ही नहीं जाती। ऐसे विशाल दैवी जगत् और विशाल कालका वर्णन बीजरूपसे श्रीमद्भगवद्गीतामें पाया जाता है।

वर्ण और आश्रमधर्म, जो हिंदू-धर्मके प्रधान अङ्ग हैं, उनका संक्षिप्त वर्णन गीतामें कई स्थानोंमें आया है। यथा—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥
(४ । १३)

अर्थात् गुणकर्मके विभागानुसार मैंने चातुर्वर्ण्यकी सृष्टि की है। मुझे उसका कर्ता समझो और अव्यय अकर्ता भी जानो। श्रीमद्भगवद्गीतामें आरम्भसे लेकर अन्ततक गुण शब्दसे त्रिगुण अर्थात् सत्त्व, रज, तमोगुणको माना है। ये ब्रह्म-प्रकृतिके तीन गुण हैं। इन तीनों गुणों और पृथक्-पृथक् कर्मोंके अनुसार श्रीभगवान् कहते हैं कि मैंने चातुर्वर्ण्य-की सृष्टि की है। जब कि मेरी प्रकृति ही यह कार्य करती है तो इस विचारसे मैं चातुर्वर्ण्यका कर्ता हूँ और जब मैं प्रकृतिका द्रष्टामात्र हूँ तब मैं अव्यय इसका अकर्ता भी हूँ। तीनों गुणोंके अनुसार, सत्त्वप्रधान, सत्त्वरजःप्रधान, रजस्तमःप्रधान और तमःप्रधान—इस प्रकार चार वर्णोंकी प्रकृतिके अनुसार गीतामें चारों वर्णोंके लक्षण कहे गये हैं जो अध्याय १८ श्लोक ४१ से ४५ तकमें देखने योग्य है। इस प्रकार वर्णधर्म और आश्रमधर्मके अनेक मौलिक सिद्धान्त श्रीमद्भगवद्गीतामें स्थान-स्थानपर मिलते हैं और संन्यासाश्रमके सम्बन्धमें तो बहुत विस्तारके साथ गीतामें वर्णन आया है।

वास्तवमें संन्यास क्या है ? कर्मयोग और संन्यासयोगमें क्या अन्तर है, सांख्य और कर्मयोगका कैसे समन्वय किया जाता है। इनका पृथक्-पृथक् लक्षण संन्यासके सिद्धान्तको समझनेके लिये ही भगवान्‌ने बहुत कुछ बताया है।

यज्ञ और महायज्ञरूपी धर्म हिंदूधर्मके सोलह प्रधान अङ्गोंमेंसे एक है। इसका भी वर्णन गीतामें विस्तारके साथ आया है। मीमांसादर्शनमें वर्णन है कि जो धर्मकार्य एक साथ श्रीभगवान्‌की प्रसन्नता सम्पादन करके देवपदधारियोंके अभ्युदयका कारण होता है, वही यज्ञ कहाता है। जो व्यक्ति-विशेषके मङ्गलके लिये कर्म किया जाता है, वह यज्ञ है और जो समष्टिके मङ्गलके लिये किया जाता है, वह महायज्ञ है। अग्निष्टोम, राजसूय आदि व्यक्तिके कल्याणके लिये किये जानेवाले यज्ञ हैं और ऋषियोंके संवर्धनके लिये किया जानेवाला ऋषियज्ञ, देवताओंके संवर्धनके लिये किया जानेवाला देवयज्ञ, पितरोंके संवर्धनके लिये किया जानेवाला पितृयज्ञ, जीवमात्रके संवर्धनके लिये किया जानेवाला भूतयज्ञ और मनुष्यजातिके संवर्धनके लिये किया जानेवाला नृयज्ञ—ये पञ्च महायज्ञ कहाते हैं। समष्टिके लिये मङ्गलकारक होनेसे ये महायज्ञ हैं। यज्ञका अपूर्व और अलौकिक विज्ञान श्रीभगवान्‌ने गीता अध्याय ३ श्लोक १०–१६ तक विस्तार-पूर्वक वर्णन किया है। उससे यज्ञकी व्यापकता और महत्ता विदित हो जाती है। इसी तरह गीता अध्याय ४ श्लोक २३से३२ तक यज्ञके भेद और उसका व्यापकत्व बताया है। अन्तमें गीता अध्याय १७ श्लोक ११–१३ तक सात्त्विक, राजस और तामस यज्ञके लक्षण बताये हैं। इस कारण गीतामें यज्ञ और महायज्ञके मौलिक विज्ञान और विस्तारका अच्छी तरह प्रमाण मिलता है।

अवतार-विज्ञानका महत्त्व और अवतारके आविर्भाव और तिरोभावका जैसा सुन्दर विज्ञान गीताशास्त्रमें पाया जाता है, वैसा अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। सर्वशक्तिमान् भगवान्‌के पूर्णावतार श्रीकृष्ण भगवान्‌ने निजमुखसे कहा है—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप॥
अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥
यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥
जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥
(अ० ४ श्लो० ५–९)

अर्थात् 'हे अर्जुन ! मेरे और तुम्हारे अनेक जन्म हो चुके हैं उन सबको मैं जानता हूँ, तुम नहीं जानते। यद्यपि मैं जन्मरहित हूँ, अविनाशी हूँ और सब भूतोंका ईश्वर हूँ, तथापि अपनी प्रकृतिका आश्रय कर अपनी मायासे जन्म ग्रहण किया करता हूँ। जब-जब धर्मकी ग्लानि और अधर्मका अभ्युदय होता है, तब-तब मैं आविर्भूत होता हूँ। साधु-सज्जनोंकी रक्षा और दुराचारियोंका नाश करने तथा धर्म-संस्थापनाके लिये मैं युग-युगमें अवतीर्ण हुआ करता हूँ। इस प्रकार मेरे दिव्य जन्म और कर्मको यथार्थरूपसे जो जानते हैं, देहान्तके पश्चात् उनका पुनर्जन्म नहीं होता। वे मुझको प्राप्त हो जाते हैं।'

मीमांसाशास्त्रमें दार्शनिक युक्तिसे यह सिद्ध किया गया है कि साधारण व्यक्तियों और विभूतियोंको जैसा शरीर धारण करना पड़ता है, वैसा अवतारोंको भी धारण करना पड़ता है, जन्म और कर्मके इस रहस्यको सब नहीं समझ सकते। भगवान्‌के अवतार ही समझते हैं। विशेषत्वके कारण अवतारोंमें अध्यात्मशक्तिरूपी ज्ञान, दैवीशक्तिरूपी कर्मोंके चमत्कार और आधिभौतिक शक्तिरूपी उनके कर्मोंका अलौकिकत्व विशेष-रूपसे बना रहता है। गीता-जैसे उपनिषद्-सारका प्रकाशन भगवदवतार श्रीकृष्णकी आध्यात्मिक अलौकिकताका जाज्वल्य-मान प्रबल प्रमाण है। उनकी व्रजलीला, द्वारकालीला, श्रीभगवान्‌की आधिदैविक शक्तिका और बिना शस्त्र धारण किये महाभारतके महायुद्धमें उनकी लीला, उनकी अलौकिक आधिभौतिक शक्तिका परिचायक है। श्रीविष्णुभगवान्‌के श्रीकृष्ण तो पूर्णावतार ही थे; किंतु उनके अनेक अन्य प्रकारके अवतार हुआ करते हैं। समयविशेष और कार्य-विशेषमें भगवान्‌के जो अंशावतार और कलावतार भी होते हैं वे उस समय उस कार्यको सम्पन्न कर अन्तर्हित हो जाते हैं। जैसे रामावतारके होनेपर परशुरामजीका अवतारत्व समाप्त हो गया। वे मनुष्यके अतिरिक्त अन्य शरीर भी धारण कर लेते हैं। जैसे मत्स्यावतार, कच्छपावतार, वाराहावतार, नारसिंहावतार इत्यादि। अंशावतार या कलावताररूपसे ऋषिगण और देवगण भी आविर्भूत होते हैं। महाभारतमें कहा है कि युधिष्ठिर और विदुर धर्मके और अर्जुन इन्द्रके अवतार थे। हनुमान् और दक्षिणामूर्ति शिवके अवतार थे।

देवगण कर्मरूपी अधिदैवराज्यके सञ्चालनके लिये और ऋषिगण ज्ञानराज्यरूपी अध्यात्मराज्यके सञ्चालनके लिये अवतार धारण करते हैं।

आर्य-शास्त्रमें उपासनाका जैसा विस्तार है, वैसा और कहीं नहीं है। उपासनामें उपास्य-उपासक-सम्बन्धसे निर्गुण ब्रह्मोपासना, सगुण पञ्चदेवोपासना, अवतारोपासना, ऋषि-देवता-पितरोंकी उपासना, यहाँतक कि क्षुद्र-शक्ति भूत-प्रेतोपासना-तकका वर्णन पाया जाता है। राजयोगके अनुसार निर्गुण ध्यान, लययोगके अनुसार बिन्दुध्यान, हठयोगके अनुसार ज्योतिर्ध्यान और मन्त्रयोगके अनुसार देव-देवियोंके ध्यान, इस प्रकारसे उपासनाके अनेक भेद पूर्णावयव सनातन धर्ममें पाये जाते हैं। और वे इतने विस्तृत हैं कि पृथ्वीके सब उपासक-वृन्द उससे लाभ उठा सकते हैं। इस उपासनायोगका वर्णन श्रीमद्भगवद्गीतामें बहुत कुछ पाया जाता है। यथा—

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥
पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥
यजन्ते सात्त्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः॥
अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥
येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥
यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥
अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

अर्थात् 'सात्त्विक बुद्धिके लोग देवताओंकी, राजसिक बुद्धिके लोग यक्ष-राक्षसोंकी और तामसिक बुद्धिके लोग भूत-प्रेतोंकी उपासना करते हैं। देवोंके उपासक देवोंको, पितरोंके उपासक पितरोंको, भूत-प्रेतोंके उपासक भूत-प्रेतोंको और मेरे उपासक मुझे प्राप्त होते हैं। पत्र, पुष्प, फल, जल, जो कुछ जो कोई भक्तिपूर्वक मुझे अर्पण करता है, उस उपासकका अर्पण किया हुआ वह सब कुछ मैं स्वीकार करता हूँ। जो अनन्यचित्त होकर मेरी उपासना करते हैं, मुझमें संलग्न उन उपासकोंका योगक्षेम मैं चलाता हूँ। अन्य देवताओंके जो भक्त श्रद्धापूर्वक उनकी उपासना करते हैं, वे अविधिसे मेरी ही उपासना करते हैं। जो-जो भक्त श्रद्धापूर्वक जिस-जिस विग्रहकी उपासना करते हैं, उनकी अचल श्रद्धा उसी विग्रहमें मैं दृढ़ कर देता हूँ। कोई कितना ही दुराचारी क्यों न हो, यदि वह मुझमें अनन्य भक्ति करता है, तो वह साधु ही समझा जायगा। वह उत्तम उपासक ही है। वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और चिरशान्तिको प्राप्त करता है। हे अर्जुन! मेरा भक्त कभी नाशको प्राप्त नहीं होता, यह तुम निश्चय जानो। देह और इन्द्रियोंके सब धर्मोंको त्यागकर अनन्य होकर मेरी शरणमें आ जाओ, मैं तुम्हें सब पापोंसे मुक्त कर दूँगा। तुम चिन्ता मत करो।'

कर्मविज्ञानसे तो श्रीमद्भगवद्गीता परिपूर्ण है। कर्मका अद्भुत रहस्य जो मीमांसाशास्त्रमें नहीं पाया जाता, उससे कहीं बढ़कर गीताशास्त्रमें पाया जाता है। इसका मूल और अर्थ ऊपर दे चुके हैं कि ब्रह्मका जो सच्चिदानन्द भाव है, उसका भूतभावकी उत्पत्तिके लिये जो त्याग कराता है, उसको कर्म कहते हैं। कर्ममीमांसा इसी बातको अन्य प्रकारसे कहती है कि प्रकृतिके स्पन्दनसे ही कर्मकी उत्पत्ति होती है। कर्म क्या है, अकर्म क्या है, विकर्म क्या है, कौन-से कर्म बन्धनकारक हैं और कौन-से कर्म बन्धनकारक नहीं होते, कैसे कर्म करते हुए भी वे बन्धनकारक नहीं होते इत्यादि सब बातोंका गीतामें विस्तृत वर्णन है। निम्नलिखित भगवद्वचनोंसे इसका दिग्दर्शन कराया जाता है।

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्॥
अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥
ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः॥
नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते॥
यत्तु कामेप्सुना कर्म साहङ्कारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम्॥
अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते॥

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥
न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥
नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥
यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥
तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥
कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन् कर्तुमर्हसि ॥
यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥
न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥

'हे महाबाहो अर्जुन! सब कर्मोंकी सिद्धिके लिये तत्त्वज्ञान-प्रतिपादक वेदान्त-सिद्धान्तमें पाँच कारण बताये गये हैं सुनो, १–अधिष्ठान (शरीर), २–कर्ता (अहङ्कारविशिष्ट जीव), ३–नाना प्रकारके करण (चक्षु आदि इन्द्रिय), ४–भिन्न-भिन्न प्रकारकी चेष्टाएँ और ५–दैव । ज्ञान, ज्ञेय (जाननेकी वस्तु) और परिज्ञाता (जाननेवाला) ये तीन प्रकारके कर्मकी प्रवृत्तिके कारण हैं तथा करण, कर्म और कर्ता इस प्रकार त्रिविध कर्मसंग्रह होता है । निष्कामभावसे सङ्ग (अभिनिवेश) से रहित और राग-द्वेषको छोड़कर जो कर्म किया जाता है, वह सात्त्विक है । फलकी आकाङ्क्षा रखकर अहङ्कारके साथ बहुत आयासयुक्त जो कर्म किया जाता है, वह राजसिक है । परिणामका विचार न कर तथा क्षय (नाश), हिंसा और अपनी शक्तिकी उपेक्षा कर मोहसे जो कर्म किया जाता है, वह तामसिक है । कर्मका अनुष्ठान न करनेसे नैष्कर्म्य (ज्ञान) की सिद्धि नहीं होती है और केवल संन्यासका अवलम्बन करनेसे भी सिद्धिलाभ नहीं होता । बिना कर्म किये क्षणभर भी कोई नहीं रह सकता । राग-द्वेषादि प्रकृतिके गुण मनुष्य-को विवश करके उससे कर्म करा ही लेते हैं । शास्त्रके द्वारा निर्दिष्ट कर्मोंका अनुष्ठान किया करो । कर्म न करनेसे कर्म करना कहीं अच्छा है । यदि तुम सब प्रकारके कर्मोंको त्याग दोगे, तो तुम्हारी शरीर-यात्रा भी नहीं चल सकेगी । यज्ञके लिये जो कर्म किया जाता है, उसके अतिरिक्त अन्य कर्म बन्धनके कारण होते हैं । अतः हे अर्जुन ! निष्कामभावसे यज्ञके लिये ही नियत कर्म किया करो । आसक्तिहीन होकर सर्वदा कर्तव्यरूपसे विहित कार्योंका अनुष्ठान किया करो; क्योंकि अनासक्त होकर कर्म करनेसे मनुष्यको मुक्ति प्राप्त होती है । जनकादि महात्माओंने कर्मके द्वारा ही सिद्धि प्राप्त की थी । लोकसंग्रह (लोगोंको स्वधर्ममें प्रवृत्त करने) के लिये भी तुम्हें कर्म करना चाहिये । श्रेष्ठ लोग जो कुछ करते हैं, साधारण लोग भी उसीका अनुसरण करते हैं । श्रेष्ठ लोग जिसको प्रमाण मानते हैं, अन्य लोग भी उसीको प्रमाण मानने लगते हैं । हे पार्थ ! मेरे लिये कुछ भी कर्तव्य नहीं बच जाता है । त्रिभुवनमें ऐसी कोई वस्तु नहीं, जो मुझे प्राप्त न हुई हो या मेरे पानेयोग्य हो, फिर भी मैं नियत कर्म करता ही रहता हूँ ।'

सनातनधर्मके अनुसार वेद और शास्त्र अपौरुषेय हैं । वेद शब्दरूपसे और शास्त्र भावरूपसे अपौरुषेय हैं । इसके लिये पूर्णावतार भगवान्‌ने स्पष्टरूपसे कहा है—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥
(१६ । २३-२४)

अर्थात् 'जो व्यक्ति शास्त्रविधिका त्याग कर स्वेच्छाप्रवृत्त होकर कर्म करता है, उसे सिद्धि, सुख और परमगति प्राप्त नहीं होती । अतः कर्तव्याकर्तव्यके निर्णयमें तुम्हारे लिये शास्त्र ही प्रमाण है । तुम शास्त्रविधानके अनुसार अपने कर्म-को जानकर उसीका आचरण किया करो ।' इससे यह सिद्ध हुआ कि गीताशास्त्रमें वेद और शास्त्रकी कैसी महिमा वर्णन की गयी है । सनातन धर्मके जो सोलह अङ्ग हैं उनमेंसे वेद-शास्त्रोंपर विश्वास एक प्रधान अङ्ग है ।

शौच और सदाचारके विषयमें संक्षेपरूपसे—श्रीमद्भगवद्गीतामें कई जगह वर्णन आया है । यथा—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥
(१६ । ७)

—इस श्लोकका तात्पर्य यह है कि 'आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्य धर्ममें प्रवृत्ति और अधर्ममें निवृत्ति नहीं जानते अर्थात् वे धर्माधर्म-विचारशून्य होते हैं । इस कारण वे शौच (शुद्धा-शुद्धविवेक), आचार (धर्मानुकूल शारीरिक व्यापार) को

नहीं जानते हैं अर्थात् वे शौच और आचारसे भ्रष्ट रहते हैं और सत्यहीन होते हैं अर्थात् सत्यका पालन नहीं करते हैं।' दूसरी ओर गीताके सोलहवें अध्यायमें दैवी सम्पत्तिके लक्षणोंमें श्रीभगवान्ने शौचको स्पष्टरूपसे कहा है। अतः शौचरूपी शुद्धाशुद्धविवेक और सदाचारपालनका मूल श्रीमद्भगवद्गीतामें स्पष्ट रूपसे पाया जाता है। आजकलके नेतृ-वृन्दोंको गीता-कथित दैवी प्रकृति और आसुरी प्रकृतिके लक्षणोंको अवश्य ध्यानमें रखकर विचार करके तब कार्य करना चाहिये। श्रीभगवान्के सगुणरूप और निर्गुणरूपका वर्णन श्रीमद्भगवद्गीताके बहुत स्थानोंमें आया है। भगवान् जब सर्वशक्तिमान् हैं तो भक्तके कल्याणार्थ उनको सगुणरूप धारण करनेमें बाधा ही क्या हो सकती है। तथापि व्यक्त (सगुणरूप), अव्यक्त (निराकार उनके निर्गुणभाव) दोनोंके विषयमें रूपान्तरसे वर्णन गीताशास्त्रमें अनेक स्थानोंमें आया है। श्रीमद्भगवद्गीता जो वेदके उपनिषद्का साररूप है, उसमें तो मुक्तिका विषय परिपूर्ण है। कर्मके साथ मुक्तिका सम्बन्ध, उपासनाके साथ मुक्तिका सम्बन्ध और ज्ञानके साथ मुक्तिका सम्बन्ध, वेदके ये तीनों काण्ड मुक्तिको कैसे प्रतिपादन करते हैं, मुक्तात्माओंके लक्षण क्या हैं इत्यादि गम्भीर विचारोंसे तो गीता परिपूर्ण है।

विश्वरूप भगवान्

(लेखक—श्रीविश्वनाथजी महिन्द्रु)

संसारमें आस्तिक और नास्तिकका भेद पहलेसे चला आया है; परंतु महात्मा गांधीजीकी दृष्टिमें नास्तिक कोई नहीं। यह बात इस अंशमें ठीक है कि नास्तिक भी एक सर्वोपरि शक्तिको किसी रूपमें अवश्य मानता है और इसके विपरीत एक अंशमें यह भी कह सकते हैं कि संसारमें परमात्माको माननेवाले विरले ही हैं; क्योंकि यह निश्चित बात है कि सच्चा ईश्वर-विश्वासी पाप नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त किसी वस्तुको अयथार्थरूपमें मानना भी न मानना ही समझा जाता है। एक पुरुषने कहा, 'मैंने शशको देखा है, उसके चार सींग होते हैं।' कहना पड़ेगा कि वास्तवमें उसने शशको नहीं देखा। इसी बातको उपनिषद्ने भी कहा है—

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः॥

यह कहा जाता है कि ईश्वरका अस्तित्व अथवा खरूप प्रमाणगम्य नहीं, पर ऐसा मानना ठीक न होगा। इससे तो धाँधली मच जायगी। जो जैसा चाहेगा ईश्वरको मान लेगा। हमारे ऋषियोंको यह बात अभीष्ट नहीं थी। श्रुति, स्मृति सबने प्रत्यक्षादि प्रमाणोंका सहारा लिया है। भगवान् बादरायणने अपने दर्शनमें ब्रह्मकी जिज्ञासा करते हुए 'जन्माद्यस्य यतः' कहकर युक्तिपूर्वक ही ब्रह्मकी सत्ता प्रकट की है। हाँ, वह परब्रह्म अचिन्त्यरूप अवश्य है। अल्पज्ञ जीव सर्वांशमें उसको नहीं जान सकता; परंतु यह उसके कल्याणमें बाधक नहीं। चींटीकी तृप्तिके लिये सागरकी एक बूँदका अंश भी पर्याप्त है।

ईश्वरके सम्बन्धमें भिन्न-भिन्न मतोंके विचारमें अन्तर देखनेमें आता है; परंतु भगवान्की लीला इस संसारमें सबको दृष्टिगोचर होती है, पर उसमें भिन्नता दिखायी नहीं देती—इसका निर्णय कुछ भी कठिन नहीं है। दृष्टान्तके लिये कुछ मतोंका विचार है कि ईश्वर उनके मतप्रवर्तकोंपर मुग्ध है और मतप्रवर्तक अपने अनुयायियोंके परम हितैषी हैं। अतएव उनके मतावलम्बी घोर-से-घोर पाप करके भी यातनासे छूटकर कल्याण प्राप्त करेंगे; और दूसरे मतका धर्मात्मा-से-धर्मात्मा पुरुष भी नरकका दुःख भोगेगा; परन्तु संसारमें इसके विपरीत स्रष्टाका सबसे एक-सा बर्ताव दृष्टिगोचर होता है। भूचाल, महामारी, जल-विप्लव, अग्निकाण्ड आदि प्रकोप तथा ऋतु-वर्षादि आनन्दप्रद काल सबके लिये एक-जैसे दिखायी देते हैं। व्यक्तिगत सुख-दुःखमें भी कोई भेदभाव नहीं। जब इस लोकमें प्रभुका किसी विशेष मतसे विशेष बर्ताव

हमें दृष्टिगोचर नहीं, तब परलोकमें कैसे मान लें। अनेक भेदोंमें एक दूसरा भेद यह भी है कि कुछ मत ईश्वरको परिच्छिन्न एकदेशी मानते हैं; परंतु इससे उसके सब गुण और शक्तियोंको भी परिच्छिन्न मानना पड़ेगा। फिर वह अनन्त सृष्टिकी व्यवस्था कैसे कर सकेगा। और परिच्छिन्नतामें अनेकताका विरोध भी नहीं हो सकता। अतएव ऐसे मत अब ईश्वरको सर्वव्यापक मान रहे हैं।

यदि ईश्वरको व्यापक मानें तो ईश्वरभिन्न जीव और प्रकृतिकी सत्ता नहीं रहती; क्योंकि किसी पदार्थके लिये कुछ स्थान रिक्त चाहिये, परंतु ईश्वरकी व्यापकतासे ऐसा कोई रिक्त स्थान नहीं माना जा सकता। कहा जाता है कि ईश्वर जीव और प्रकृतिके भीतर वायु तथा अग्निकी तरह व्यापक है; परंतु वैज्ञानिक इन्हें परमाणुरूप मानते हैं (अग्निको वस्तुकी एक अवस्था-विशेष माना गया है) जिनके भीतर अवकाश रहता है। इसपर यह कहा जाता है कि ईश्वर जीव और प्रकृतिसे सूक्ष्म है। अतएव वह दोनोंमें व्यापक है। परंतु यह सूक्ष्मता क्या है—अभीतक किसीने नहीं बताया। वास्तवमें यह सूक्ष्म-स्थूलका भेद भी परमाणुरूप पदार्थोंमें ही हो सकता है। जिसके परमाणु घने, वह स्थूल और जिसके दूर-दूर, वह सूक्ष्म कहलाता है। जब जल बाष्प बन जाता है तो कहते हैं सूक्ष्म होकर फैल गया। वायुमें भी स्थूलता और सूक्ष्मता इसी नियमसे होती है। कहा जायगा कि परमात्मा निराकार होनेसे परम सूक्ष्म है; परंतु यह निराकारता क्या है ? और ईश्वर, जीव—दोनों निराकार माने जाते हैं, अतएव निराकारतामें सूक्ष्म-स्थूलका भेद कैसे ? प्राकृतिक पदार्थोंकी स्थितिके लिये अवकाशका होना आवश्यक है, तो निराकारके भीतर अवकाश कैसे ? यदि अवकाशके बिना ही उनकी स्थिति है तो यह कैसे ? निराकारवादी इसका कोई उत्तर नहीं दे सकते।

श्रुतिने विश्वरूपमें भगवान्‌की सत्ताका वर्णन किया है, जिसपर कोई आक्षेप नहीं हो सकता। यथा—

पुरुष एवेदꣳ सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।
(यजु० ३१)

सर्वं खल्विदं ब्रह्म।

जो कुछ हुआ और होगा, यह सब पुरुष ही है। निश्चय ही यह सब ब्रह्म है।

यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम्।
(अथर्व०)

भूमि उसके पैर और अन्तरिक्ष उदर है।

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च……तदेतन्मूर्तं यदन्यद्वायोश्चान्तरिक्षाच्च॥
(बृहदारण्यक० २। ३। १-२)

ब्रह्मके दो रूप हैं—मूर्त और अमूर्त। पृथिवी, जल, अग्नि मूर्त और वायु, आकाश अमूर्त। यही निराकार और साकार रूप कहे जा सकते हैं। परब्रह्म परमात्मा जगत्‌का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है। और केवल यही एक अद्वितीय सत्ता, सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, कर्ता, पालक, संहर्ता, अजर, अमर, अनादि, अनन्त और नित्य रूपमें वर्तमान है।

श्रुतिने तैंतीस देवताओंकी सत्ताको माना है। और यही भेदोपभेदसे अधिक संख्यामें भी कहे गये हैं; परंतु यह भी भगवान्‌का अङ्ग है। कोई पृथक् सत्ता नहीं। श्रुतिने स्पष्ट कह दिया है—

त्रयस्त्रिंशद्देवा यस्याङ्गे।

उसी जगदीश्वरकी विशेष कला अवतारके रूपमें प्रकट होती है। यथा—

अवतारा ह्यसंख्येया हरेः सत्त्वनिधेर्द्विजाः।
यथाविदासिनः कुल्याः सरसः स्युः सहस्रशः॥
ऋषयो मनवो देवा मनुपुत्रा महौजसः।
कलाः सर्वे हरेरेव सप्रजापतयस्तथा॥
(श्रीमद्भा० १। ३। २६-२७)

सागरकी नदियोंके सदृश हरिके असंख्य अवतार हैं। ऋषि, मनु, देव, मनुपुत्र, प्रजापति—जितने भी महती विभूतिवाले महापुरुष हैं, सब भगवान्‌की कला हैं।

हमारे पूर्वज महानुभावोंमें पक्षपात न था, उन्होंने बुद्ध भगवान् और जैन तीर्थङ्कर श्रीऋषभदेवजीको भी अवतारोंमें सम्मिलित कर लिया—हमारे ऋषियोंने जीवकी सत्ताको भी ब्रह्मसे भिन्न नहीं माना। यथा—

अंशो नानाव्यपदेशात्। (वेदान्त० २।३।४३)
ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
(गीता १५।७)

—इत्यादि प्रमाणोंमें जीवको ब्रह्मका अंश कहा गया है। इस प्रकार उस भगवान्की एक अद्वितीय सत्ता सिद्ध है। अन्य मतावलम्बी भिन्न प्रकारसे इसका वर्णन करते हैं, जो युक्तिसंगत नहीं है। यह भगवान्का अंशस्वरूप मनुष्य संसारमें क्या कुछ कर दिखाता है। इतिहास इससे भरे पड़े हैं। सागरकी बूँदकी यह शक्ति देखकर सागररूप भगवान्की सर्वशक्तिमत्तापर दृढ़ विश्वास हो जाता है।

परिच्छिन्नोऽल्पशक्तिर्वा व्यापकोऽन्यन्निषेधकः।
सर्वं खल्विदं ब्रह्म मन्तव्यो न तु स्वप्रभाक्॥
(सुगीता ६।१४)

कमीकी पूर्तिका उपाय

(लेखक—पं० श्रीलालजीरामजी शुक्ल, एम्० ए०)

प्रत्येक मनुष्य निरन्तर अपनेमें किसी-न-किसी कमीका अनुभव करता है—किसीको धनकी कमी है, तो किसीको मकानकी, किसीको सम्बन्धियोंकी कमी है, तो किसीको अपने शारीरिक स्वास्थ्यकी कमीका अनुभव होता है। कोई व्यक्ति अपने चरित्रकी कमीके लिये अपने-आपको दुखी बनाये रहता है। इन सब प्रकारकी कमियोंकी पूर्ति कैसे हो? सभी मनुष्य अपने-अपने दुःखसे दुखी रहते हैं। एक कमीकी पूर्ति दिखायी पड़ी तो दूसरी कमीका अनुभव होने लगता है। अब प्रश्न यह है कि क्या कोई ऐसा एक ही उपाय है कि जिससे सभी कमियोंकी पूर्ति हो जाय?

इस प्रश्नपर विचार करनेसे एक उपाय सूझता है, वह यह कि जिस प्रकारकी कमीकी अनुभूति कोई व्यक्ति अपने-आपमें करे, दूसरेमें उसी प्रकारकी कमीकी खोज करके उसे पूरा करनेकी चेष्टा करे तो उसकी अपनी कमीकी अनुभूति नष्ट हो जाय। हालमें ही लेखकको चिन्ता हुई कि उसके पास रहनेके लिये मकान नहीं है और उसके बाद उसके बच्चोंके लिये भी मकान नहीं है। इस विचारने कुछ देरतक परेशान किया। आज प्रातःकाल इस चिन्ताका निवारण अपने-आप हो गया। मनमें विचार आया कि जिस प्रकारकी वस्तुकी कमी तुम अपने लिये अनुभव करते हो, उसी प्रकारकी कमीकी पूर्ति दूसरेके लिये करो तो तुम्हारी कमीकी पूर्ति अपने-आप ही हो जायगी।

वास्तवमें यह विचार ठीक है। मनुष्य अपनी कमीके विषयमें जबतक चिन्ता करता है, तबतक उसका विचार नकारात्मक रहता है। वह कमीके बारेमें ही सोचता रहता है। फिर जो कुछ मनुष्य सोचता है, वही उसके साथ रहता है। पर जब मनुष्य दूसरे व्यक्तिकी कमीके बारेमें सोचने लगता है और उसकी पूर्तिकी चिन्ता करने लगता है तब उसका विचार रचनात्मक हो जाता है। प्रत्येक मनुष्य दूसरे व्यक्तिकी सहायतामें जितना सफल हो सकता है, अपने-आपके लिये प्रयत्न करनेमें उतना सफल नहीं होता है। जब मनुष्यका मन रचनात्मक कार्यमें लग जाता है तो वह अपने-आपके लिये भी स्वयमेव ही सुन्दर सृष्टि कर लेता है।

मनुष्यकी इच्छाएँ उसकी कमीकी सूचक हैं। ये इच्छाएँ उसे केवल दुखी ही बनाती हैं। ये तबतक फलित नहीं होतीं, जबतक मनुष्य इच्छाओंकी ओरसे मुख नहीं मोड़ लेता। इच्छाओंकी ओरसे मुख मोड़नेसे इच्छाएँ फलित होने लगती हैं। जब हम किसी व्यक्तिसे अपने लिये पैसा माँगते हैं तो हम अपने-आपके गिर जानेका अनुभव करते हैं। पर जब हम अपने लिये न माँगकर सार्वजनिक कार्यके लिये पैसा माँगते हैं, तब हम आत्म-उत्थानका अनुभव करते हैं। इस मानसिक स्थितिमें दूसरे लोग हमारी सहायता भी करने लगते हैं। देखा गया है कि जिस बातकी किसी मनुष्यको चिन्ता हो जाती है, वह उसे पूरी करनेमें कभी भी सफल नहीं होता। उसकी चिन्ताकी मनोवृत्ति दूसरे लोगोंकी इच्छाशक्तिको भी निर्बल बना देती है। अतएव वे उसे सहायता न देकर उससे भागते हैं।

किसी प्रकारकी कमीके बारेमें नित्यप्रति चिन्ता करनेसे मन निर्बल हो जाता है। ऐसी अवस्थामें नकारात्मक भाव और भी प्रबल हो जाता है। जो व्यक्ति अपनी कमीको हटानेके लिये जितना ही अधिक चिन्तित रहता है, वह उतना ही उस कमीको दृढ़ बना देता है। रोगोंके विषयमें देखा गया है कि जो व्यक्ति अपने रोगके विषयमें जितना ही अधिक चिन्तित होता है, वह उस रोगसे उतना ही अधिक जकड़ जाता है। जब कोई व्यक्ति अपने रोगके प्रति उदासीन हो जाता है और सभी प्रकारके कष्ट और मृत्युतकके लिये अपने मनको तैयार कर लेता है तब उसका रोग जाने लगता है।

लेखकके एक छात्रको क्षय रोगका संदेह हो गया था। कुछ डाक्टरोंने भी कहा था कि उसे क्षय रोग होने जा रहा है। यह उसकी पहली हालत है। रोगीको चारपाईसे न उठनेका आदेश एक डाक्टरने दिया। घरके लोग घबड़ाये हुए थे। वह कुछ दिनोंतक इसी प्रकार रहा। अपनी चारपाईसे नहीं उठता था। पर इस प्रकार वह प्रतिदिन निर्बल होता गया। एक दिन उसके मनमें आया कि मरना यदि निश्चित है तो इससे डरना क्या? अब मृत्युका स्वागत ही करना चाहिये। इस विचारके आते ही उक्त विद्यार्थीके विचार आशावादी बन गये। वह फिर अपने अभिभावकोंसे छिपकर घूमने जाने लगा। कुछ दिनों बाद वह अपने-आपमें परिवर्तन देखने लगा। अन्तमें उसके क्षय रोगका अन्त हो गया।

लेखकके एक दूसरे मित्रके क्षय रोगका अन्त दूसरे लोगोंकी उसी रोगकी चिकित्साके प्रयत्नसे हो गया।

एक बार लेखकके पास एक सभामें जानेके लिये अच्छे कपड़े नहीं थे। उसे इस कमीकी अनुभूति हो रही थी। वह विचार करता था कि कपड़े कैसे तैयार हो जायँ, अभी पैसा भी नहीं मिला था। इसी बीच लेखकके एक शिष्यने अपने शिक्षककी इसी प्रकारकी कमीकी चर्चा की। इस शिक्षकको उसी सभामें पुरस्कार पानेके लिये बुलाया गया था। पर वह बेचारा इतना गरीब था कि सभामें उपस्थित भी नहीं हो सकता था। उसके विद्यार्थीको उसपर दया आयी और उसने अपने ओढ़ने-बिछानेके कपड़े ही शिक्षकको दे दिये। इसे देखकर लेखक अपनी कमीको भूल गया। इसी बीच उसने दर्जीको कुछ कपड़े सिलनेके लिये दिये थे। उसका मन इनसे उदासीन हो गया और वह बिना नये कपड़े लिये ही उक्त सभामें चला गया। पुराने कपड़े ही उसे फिर प्रिय बन गये। लेखकके मनमें भावना आती थी कि उस गरीब शिक्षककी सहायता की जाय। उसकी वास्तवमें सहायता कुछ भी नहीं की गयी, पर केवल भावनामात्रने ही उसकी गरीबीको दूर कर दिया।

कोई भी मनुष्य धनको प्राप्त करनेकी चेष्टासे धनी कदापि नहीं बन सकता। धन दान करनेकी इच्छासे ही मनुष्य धनी बनता है। दान करनेका भाव मनुष्यके ध्यानको अपनी कमीसे हटाकर दूसरे व्यक्तिकी कमीपर लगा देता है। इस प्रकार वह अपने-आपमें पूर्णताकी अनुभूति करने लगता है। वह जितना ही दूसरेको पूरा बनानेकी चेष्टा करता है, अपने-आप भी वह उतना ही पूर्ण बनता जाता है।

जो विद्यार्थी भली प्रकारसे विद्या-अध्ययन करना चाहता है, उसे चाहिये कि वह दूसरे विद्यार्थीको पढ़ाने लगे। अपनेसे कमजोर विद्यार्थीको पढ़ानेसे न केवल उस विद्यार्थीको विद्या आ जाती है वरं अपना मन भी पढ़नेमें ठीकसे लगने लगता है। इससे उस विद्यार्थीमें आत्मविश्वास आ जाता है और वह दिन-प्रति-दिन अपनी उन्नति करने लगता है। किसी विषयका ज्ञान हमें तबतक ठीकसे नहीं होता, जबतक हम उसे किसी दूसरेको नहीं सिखा देते। दूसरेको सिखानेके प्रयत्नसे ही विद्या ठीकसे आती है। विचार प्रकाशित करनेसे दृढ़ होते हैं और अपने-आपकी समझमें आते हैं। अधिक पुस्तकें पढ़नेवाला व्यक्ति विद्वान् नहीं बनता। उसका ज्ञान केवल पुस्तकमें ही रह जाता है। पर जो अपने ज्ञानका दूसरोंके लिये वितरण करता है, वही सच्चा विद्वान् बनता है। उसकी विद्या समयपर काममें आती है। वह केवल मस्तिष्कके लिये बोझ बनकर नहीं रहती। जिस समय लेखक कालेजका छात्र था, अपने साथियोंको पाठ्य विषय पढ़ाया करता था। इसके परिणामस्वरूप उसके साथी तो परीक्षामें पास होते ही थे, वह स्वयं भी उस विषयको भलीभाँति जान लेता था। जो विषय जितना ही कठिन होता था, वह लेखकको उतना ही अधिक याद भी रहता था। सरल विषयको अधिक साथी नहीं पूछते थे, अतएव उसके संस्कार मनपर दृढ़ नहीं होते थे। कठिन विषयको अधिक लोग पूछते थे, इसलिये उसे बार-बार अनेक प्रकारसे दुहराना पड़ता था। इस तरह वह विषय पक्का हो जाता था।

यदि कोई व्यक्ति अपने-आपमें किसी ऐसे दोषकी उपस्थिति देखे जिसके कारण उसे बार-बार आत्मग्लानि हो तो इसके अन्त करनेका सर्वोत्तम उपाय यही है कि वह किसी दूसरे व्यक्तिको उसी प्रकारकी कमीसे छूटनेमें सहायता करे। एक व्यक्तिको सिगरेट पीनेकी भारी लत लग गयी थी। वह

इसे छोड़ना चाहता था, पर वह लत उसे नहीं छोड़ती थी। उसने अपने एक मित्रसे सलाह पूछी। मित्र मनोवैज्ञानिक थे। उन्होंने उस समय कोई सलाह नहीं दी। किसी प्रकारकी कमजोरीकी अनुभूति करनेवाले व्यक्तिको उस कमजोरीके विषयमें व्याख्यान देना हानिकारक होता है। उसके मनको अपनी कमजोरीका चिन्तन करनेसे मुक्त करना ही उसे कमजोरीसे छुड़ानेका पहला उपाय है। अतएव मित्र-ने उसकी सिगरेटकी आदतपर कोई बातचीत नहीं की। कुछ दिनों बाद उसने एक लड़केको उसकी अभिभावकतामें रख दिया। इस लड़केको सिगरेट पीनेकी आदत थी। मित्रने इसकी आदतके विषयमें कुछ भी चर्चा नहीं की थी। इस आदतकी खोज स्वयं अभिभावकने की। अब उसे चिन्ता लगी कि इस लड़केकी आदत इतनी कड़ी न हो जाय कि वह पीछे उसको मेरे ही समान छोड़ न सके। अतएव उसने प्रतिदिन उस बालकको सिगरेट पीनेके दुष्परिणामपर उपदेश देना प्रारम्भ किया और अपना ही उदाहरण देकर उसे समझाया कि तुम भी पीछे मेरे ही सदृश पछताओगे। इस उपदेशका बड़ा ही अच्छा प्रभाव बालकके मनपर पड़ा। उसने सिगरेट पीना छोड़ दिया। पर कुछ दिनों बाद उपदेशकने भी अपने-आप-में इतना परिवर्तन पाया कि वह न केवल अपनी एक सिगरेट पीनेकी आदतको ही छोड़ दिया, वरं अनेक दूसरी बुरी आदतोंसे भी वह मुक्त हो गया।

जब कोई व्यक्ति बालकको केवल व्याख्यान अथवा उपदेश देकर चरित्रवान् बनाना चाहता है तो वह बालकको चरित्रवान् न बनाकर और भी निर्बल इच्छाशक्तिका व्यक्ति बना देता है। नैतिक उपदेशसे बालक समझ जाता है कि उसके लिये क्या करना चाहिये। पर वह बालककी इच्छाशक्ति-को मजबूत नहीं बनाता। फिर बालक भली बातको जानकर जब उसके विरुद्ध आचरण करता है तो वह आत्मग्लानिकी अनुभूति करता है। इससे उसकी इच्छाशक्ति और भी निर्बल हो जाती है। फिर वह अपने-आपको बुरे कामोंसे रोक नहीं पाता। अतएव केवल उपदेश देना बालकके चरित्रका विनाशक है। इससे अपने-आपको भी कोई लाभ नहीं होता। जब कोई व्यक्ति अभिमानरहित होकर बालकसे बात करता है और अपने-आपको उससे श्रेष्ठ सिद्ध करनेकी चेष्टा नहीं करता, तभी वह बालकका और अपना लाभ करता है।

अपनी कमीपर न तो रोना उचित है और न दूसरोंकी कमीपर हँसना। जो अपनी कमीपर रोता है, वह कमीको बढ़ाता है और जो दूसरोंकी कमीपर हँसता है वह उस कमी-को अपने-आपमें ले आता है। अपनी कमीपर हँसना और दूसरोंकी कमीपर रोना—यही कमियोंके अन्त करनेका सर्वोत्तम उपाय है।

साध

(रचयिता—श्रीभवदेवजी झा)

प्रभो ! यही ले साध चला मैं साधन-पथ पर।
रटा करूँ तव नाम नित्य निष्काम निरन्तर॥
भोगोंसे मुख मोड़ छोड़ मद-मत्सर सारे।
तोड़ जगत्‌का मोह टोहमें लगूँ तुम्हारे॥
संत-शरण कर ग्रहण मैं, तव गुण-गरिमा गा सकूँ।
कृपा-सिन्धुमें डूबकर, त्याग-रत्न मैं पा सकूँ॥ १॥

यह अन्तिम है साध प्रेम-पारस मैं पाऊँ।
बना हृदयको स्वर्ण विरहमें उसे तपाऊँ॥
उर मेरा बन जाय सुखद स्वर्णिम सिंहासन।
दया-दान-दम आदि रहें पूजनके साधन॥
मानस-मन्दिरमें तुम्हें, मैं इस बार बुला सकूँ।
अश्रु-हार उपहार दे, 'मैं सर्वस्व' भुला सकूँ॥ २॥

त्यागी

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥
(गीता १२ । १७)

'आपको कोई कष्ट तो नहीं हुआ ?' महामन्त्रीने अतिथिशालामें पहुँचकर स्वयं प्रश्न किया ।

'आपका आतिथ्य आपके महान् यशके अनुरूप है ।' उनके शब्दोंमें नम्रता थी । 'एक अकालसे पीड़ित प्राणी अपने परिवारको लेकर जब एक घूँट जल एवं दो मुट्ठी अन्नके लिये भटक रहा था, आपने उसे आश्रय दिया है । यहाँकी सुविधाओंको सोचना भी कठिन है मेरे लिये ।' कृतज्ञताभरी वाणीके साथ अञ्जलि बँधी थी ।

'हमारा सौभाग्य ।' नीतिकुशल मन्त्रीके तीक्ष्ण नेत्रोंने देख लिया कि सुगन्धित तैल एवं सुन्दर अङ्गराग स्पर्शतक नहीं किया गया है । चन्दनपादुका सम्भवतः अर्चनके समय ही उपयोगमें आयी है । हाथीदाँतके पलंगपर दूधके समान उज्ज्वल कुसुम-सा कोमल बिछौना श्रान्त अतिथिको ब्राह्ममुहूर्तमें उठनेसे रोक नहीं सका है । संगमर्मरका फर्श भीगा है । मलयमण्डपका आसन उठाया नहीं जा सका है और पूजाके उत्तरीयको अभी उन्होंने उतारा नहीं है । स्नानादिसे निवृत्त होकर आराध्यका अर्चन समाप्त हो चुका है । सम्भवतः अभी ही अग्निदेवको आहुति देकर उठे होंगे । 'हम आपके उज्ज्वल यशसे परिचित थे; परंतु आज आपकी चरण-रजसे पाञ्चाल पवित्र हुआ ।'

'शालीनता आपकी ।' अतिथि नम्र थे । 'पंचनदकी पावन भूमि सदासे अपने पवित्र पुरुषोंके लिये प्रख्यात रही है ।' कृत्रिमता नहीं थी उस वाणीमें और उसे चाटुकारी कहना किसी प्रकार सम्भव नहीं ।

'हम आपकी समीपताका लोभ रोक नहीं सकते ।' महामन्त्रीने रात्रिमें ही नरेशसे मन्त्रणा कर ली थी और आजकी राजपरिषद्में अपने विचारकी घोषणा करनेका उन्होंने निश्चय कर लिया था । पाञ्चालपतिने प्रार्थना की है कि आप कोषाध्यक्षका कार्य स्वीकार करें तो कृपा होगी । वस्त्रोंमेंसे एक रेशमी वस्त्रमें ढका पीला भोजपत्र दाहिने हाथसे आगे बढ़ा दिया गया ।

'ब्राह्मण निरपेक्ष हुआ करता है और हिसाबकी कलासे अनभिज्ञ भी ।' नम्रतापूर्वक मस्तक झुकाकर उस आज्ञापत्रका सत्कार कर दिया गया । 'योग्य अधिकारीको ही अधिकार शोभा देता है । राजकार्यसे दूर एकान्त अरण्यका सेवक कैसे साहस कर सकता है इसका ।' जैसे कोई बहुत अधिक संकोचका अवसर उपस्थित हो गया हो ।

'भगवती सरस्वतीकी क्रीडाभूमि काश्मीरमें भी जो अर्थशास्त्रके एकमात्र आचार्य हैं, हम उनके चरणोंमें अनुरोध ही कर सकते हैं ।' शताब्दियोंके पश्चात् भीषण हिमपातने काश्मीरको श्वेत बना दिया था । सत्त्वगुण ही रहे, तो भी तो सृष्टि न रहेगी । पुष्पित लताओं एवं हरे-भरे वृक्षोंको उस श्वेत हिमने छिपा लिया । आचार्य अभिरुचि अपने आश्रमका त्याग करनेको विवश हुए थे और उनके साथ उनकी कोमलाङ्गी पत्नी तथा आठ वर्षका शिशु था । इस आपत्तिमें भी उनका महान् व्यक्तित्व महामन्त्रीको अभिभूत कर रहा था । उनके सम्मुख धृष्टता असम्भव थी । 'पाञ्चालाधिपति दुस्साहस नहीं कर सकेंगे; किंतु बड़ी आशासे उन्होंने भेजा है मुझे ।' मन्त्रीको ज्ञात था कि उनके अतिथि कहीं प्रस्थान करनेका निश्चय कर लेंगे तो उनको रोका नहीं जा सकेगा । प्रातः आनेमें यही उद्देश्य था ।

'सिद्धान्त यदि अनुभवके द्वारा अभ्यस्त न कर लिये गये हों तो उपयोगी नहीं हुआ करते ।' आपत्तिकालमें यह वृत्ति ब्राह्मणके लिये निषिद्ध तो नहीं है शास्त्रोंमें । पत्नी और पुत्रको लेकर इस विषम परिस्थितिमें कहाँ जाया जा सकता है । अधिकांश उत्तरदेशवासी उत्पीडित पाञ्चाल आये हैं और समाचार मिला है कि ब्रह्मावर्तका दक्षिणी भाग दस्युओंके द्वारा आक्रान्त है । आचार्यने मस्तक झुकाकर कुछ सोचा । 'यदि महाराज इतनेपर भी आग्रह करेंगे तो राजसभामें मैं इस पत्रको स्वीकार कर लूँगा । ब्राह्मण तभीतक आजीविकाके लिये उपार्जन कर सकता है, जबतक प्रकृतिके निर्मल अङ्कमें उसका आश्रम निरुपद्रव नहीं हो जाता ।' विचार करनेके लिये अवकाश आचार्यने इतनेपर भी रख लिया ।

'राजोद्यानका एकान्त भवन श्रीचरणोंकी प्रतीक्षा करेगा ।' मन्त्रीने निवासकी व्यवस्था सूचित की ।

'सामग्रियोंकी अधिकता मनको व्यवस्थाहीन करती है और अनन्तरुचि अभी कच्ची बुद्धिका शिशु है ।' बालक ऐश्वर्यका उपभोगी बन जाय, यह एक विप्रको कैसे स्वीकार होगा । ब्राह्मणका शरीर तुच्छ भोगोंके लिये प्राप्त नहीं हुआ करता । वह तो मानवयोनिके इस महत्त्वको प्राप्त करता है मायापाशसे मुक्त होनेके लिये ।

'नगरसीमाके बाहरी उपवनमें एक कुटिया, एक गौ और हवनकी सामग्री—बस । अधिक वस्तुएँ तथा बहुत-से सेवक उद्विग्न ही करेंगे मुझे । उनके उपयोगका इस विप्रको अभ्यास नहीं है ।' प्रबन्धके सम्बन्धमें पूर्ण आदेश थे इसमें ।

'आज्ञाका पालन होगा ।' मन्त्री प्रसन्न थे अपनी सफलतापर ।

'यह दरिद्र कंकाल और पाञ्चालका कोषाध्यक्ष ।' राजसभामें अपने समीप बैठे हुए एक पुरुषके प्रति किसी ईर्ष्यालुके अन्तरकी अग्नि वाणी बनकर धीरेसे प्रकट हो गयी । आचार्य अभिरुचिने सौम्य शान्तभावसे नियुक्ति-पत्र स्वीकार कर लिया था । उनमें न तो चञ्चलता आयी और न उल्लास दिखायी पड़ा । राज-परिषद्के सभ्योंने देखा कि दूसरे दिन कोषाध्यक्षका आसन एक ऐसे ब्राह्मणसे भूषित है, जिसके वस्त्र, पादुका एवं भाव उस आसनके उपयुक्त अबतक नहीं समझे जाते रहे हैं । उसे तो किसी तपोवनमें बैठना चाहिये था ।

'नवासी निष्क मासिक मेरी ओरसे दीनोंकी सेवामें और बाँटा जाया करेगा ।' दानाध्यक्ष तो आश्चर्यसे मुख देखने लगे । 'यह किसीको ज्ञात नहीं होना चाहिये कि यह महाराजसे पृथक् दान है । व्यवस्थाके भारसे मुक्त रहना चाहता हूँ मैं ।' कुल नब्बे निष्क (स्वर्णसिक्के) मिलने हैं और सुरक्षित रक्खा गया अपने लिये एक ।

'इस प्रकार तो महाराजके यशमें ही यह दान लुप्त होगा ।' दानाध्यक्षने नवीन कोषाध्यक्षको सावधान करनेका प्रयत्न किया । 'यदि आप दशांश दान नहीं करते तो नियमको उलट लें । अपने लिये दशांश रक्खा करें, आठ निष्क मासिक पैतृक सम्पत्ति मिलनी चाहिये कुमार अनन्तरुचिको ।' सन्तानके लिये संग्रह करना—यह तो आवश्यक है ।

'निष्क महाराजके हैं, अतः यश उन्हींका होना चाहिये ।' बिना सोचे आदेश आजतक आचार्यने कभी नहीं दिया । 'ब्राह्मणपुत्रको पैतृक सम्पत्तिके रूपमें प्राप्त होना चाहिये विद्या, तप एवं धर्म । अपने कर्तव्यसे मैं विमुख नहीं रहूँगा । अनन्तरुचिको यह पैतृक दाय मिलेगा । सम्पत्तिको ब्राह्मण क्या करेगा ।'

× × × ×

[२]

'आखेटमें आप साथ रहें, ऐसा अनुरोध है ।'

'ब्राह्मण शिकारी नहीं होता । क्षत्रियके धर्मको बिना विपत्तिकालके उसे स्वीकार नहीं करना चाहिये ।'

'नियमतः विजयाके पुण्यपर्वमें सभी राजपरिषद्के सभ्य सीमोल्लङ्घनमें सहयोग करते हैं।'

'सैनिक आलस्य न अपना लें इसीलिये सीमोल्लङ्घन-का विधान शास्त्रोंने किया है। कल्पित नियम शास्त्रीय व्यवस्थाओंका अतिक्रमण करनेमें असमर्थ हैं। सभी सीमोल्लङ्घनमें सहयोग करें, यह कल्पित रूढि है।'

'विप्र जब आपत्तिमें राजसेवक हो सकता है तो उसे राजाके दूसरे आदेश भी स्वीकार करने चाहिये।' अत्यन्त समीपता अनादरका कारण होती है। आज पाञ्चालपति अविनीत हो रहे थे। उनके अन्तरङ्ग सुहृदों-ने उन्हें समझाया था कि राजपरिषद्में राजोचित वेष-भूषा और व्यवहार ही राजसम्मानकी रक्षा करता है। नरेशके हृदयमें यह विचार दृढ कर दिया गया था कि अपने ब्राह्मणत्वकी श्रेष्ठताको सूचित करते हुए राजाके अपमानके लिये ही आचार्य अभिरुचि राजवस्त्र धारण नहीं करते। आज नरेशका वह हृदयमें छिपा भाव कुछ उद्धत होकर प्रकट हो रहा था।

'आपत्ति केवल विवश करती है, आवश्यकताकी पूर्तिमात्रको अपवादस्वरूप स्वीकार करनेके लिये।' आचार्यने क्षोभका कोई लक्षण प्रकट नहीं किया। 'अनिवार्य आवश्यकताके अतिरिक्त कुछ भी स्वीकार करना वहाँ भी अधर्म ही होता है।' वे तटस्थभावसे धर्ममीमांसा कर रहे थे।

'राजसम्मानकी रक्षा आपके लिये आवश्यक नहीं है?' राजाका रोष बढ़ता जा रहा था। 'राजपरम्पराका समादर आप अनिवार्य नहीं मानते?' प्रश्नोंके स्वरने विनयका नाटक समाप्त कर दिया।

'राजसम्मान एवं राजपरम्परा दोनों सम्मान्य हैं।' आचार्यकी वाणी जैसे किसी शिष्यको उपदेश देनेके लिये प्रकट हो रही हो। 'मैं राजपुरुष नहीं हूँ। आपद्धर्मके रूपमें मैंने स्वीकार किया है यह कर्म। अतः एक राजपुरुषकी भाँति ही यहाँके धर्म मेरे स्थायी धम नहीं और जब मुख्य तथा गौण धर्मोंमें विरोध हो तो प्रधानता मुख्य धर्मको मिलनी चाहिये।' जिसका निश्चय दृढ हो, उसे विचलित तो नहीं ही किया जा सकता।

'आप ब्राह्मण हैं। शरीरदण्ड आपको दिया नहीं जा सकता।' होठ काट लिया नरेशने। 'आप अपने मुख्य धर्मका पालन करनेके लिये स्वतन्त्र हैं। महामन्त्री! आपकी कुटीकी सम्पूर्ण सामग्री लेकर बाँट दो ब्राह्मणोंको। राजपुरुषोचित सम्पत्तिसे आपको छुटकारा दो और राजस देश पाञ्चालकी सीमासे भी कल सूर्योदयके पूर्व।' आवेशमें भी विप्रकी सम्पत्ति राजकोषमें लेनेका साहस नहीं हुआ। मन्त्री इस निर्वासन-दण्डके विपरीत कुछ कहें, इससे पूर्व महाराजका अश्व आखेटके लिये बढ़ गया। उन्हें उभाड़नेवाले अधम अन्तरङ्ग पुरुष दूरसे प्रसन्न हो रहे थे।

'मैं जानता हूँ, अन्याय हुआ है आपके साथ।' महामन्त्रीने भरे नेत्रोंसे कहा। 'आप भी मानते हैं कि पाञ्चालपतिको किन पुरुषोंने उत्तेजित किया है। आप अपनी कुटीमें शान्तिपूर्वक विश्राम करें। महाराजका आवेश शीघ्र शान्त हो जायगा और प्रातःकालकी राज-सभामें अपराधी दण्डाधारके सम्मुख दण्ड पानेके लिये खड़े किये जायँगे।' अमात्यने अपने प्रभावपर उचित विश्वास किया था।

'प्रभुने मुझे सावधान किया है। अब समय आ गया कि मैं आपद्धर्मका परित्याग कर दूँ।' आचार्यके स्वरोंमें दृढ़ता थी। 'मैं आपसे विनय करूँगा कि आप उन पुरुषोंको क्षमा कर दें, जो मेरे इस उद्बोधनमें निमित्त हुए हैं। वे मेरे उपकारकर्ता हैं। ब्राह्मण होकर मैं प्रार्थना करता हूँ कि आप उनके अभ्युदयका मार्ग बंद न करें।' सच्चे हृदयका अनुरोध टाला नहीं जा सकता। जिनके कारण इस प्रकार अपमानित होना पड़ा, उनका आभार मानना यह अपूर्व दृष्टान्त था।

महामन्त्री अवाक् देख रहे थे राग-द्वेषकी द्वन्द्व-परिधिसे पार उस महापुरुषकी ओर, जो अपनी कुटीको प्रस्थान कर चुका था ।

'देवि सुरभि ! क्षमा करो ।' ब्राह्मणीने होमधेनुके पैरोंके पास मस्तक रक्खा । उनके नेत्रोंके जलने अन्तिम पूजन किया । 'पता नहीं ये अभागे प्राणी कहाँ भटकेंगे ।' अपनी अपेक्षा माताको अपने भोले बालककी अधिक चिन्ता थी । आश्रमसे एक वस्त्र भी ले जानेका आदेश आचार्यने नहीं दिया ।

'कल्याणी ! तुम यहाँ क्या लेकर आयी थीं ? तुम्हारे प्रारब्धमें जो है, वह तुम्हारा स्वागत करनेको सब कहीं प्रस्तुत मिलेगा । दूसरोंके भागको अपनानेकी इच्छा क्यों ?' पत्नीको वे इस प्रकार समझा रहे थे, जैसे अपने कोषाध्यक्षके आसनपर बैठने राजसभामें जा रहे हों और सन्ध्यातक लौट आवेंगे ।

'अनन्त आज तीन दिनसे ज्वरपीडित है ।' पत्नीने शोकका वास्तविक कारण स्पष्ट किया और हिचकियाँ लेने लगीं । उनमें वस्तुओं अथवा कुटीका मोह नहीं था । 'कोमल बालक, पता नहीं शीत, वायु और वर्षा क्या-क्या पड़े ।' अपने पुत्रके समीप जाकर अङ्कमें छिपा लिया उसे उन्होंने ।

'और इसीलिये तुम शोक कर रही हो ।' स्वर कह रहा था कि यह तो बुद्धिमानी नहीं है । 'पगली ! तेरा अनन्त अपने साथ अपना प्रारब्ध ले आया है । ज्वर, कष्ट जो उसे होना है, वह होकर रहेगा । यहाँ रहनेसे वह कम नहीं होगा और प्रचण्ड झंझा या खुली वर्षामें बढ़ेगा नहीं । सर्वात्मा श्रीहरिने जो व्यवस्था की है, उसमें कोई उलट-फेर नहीं होगा ।' पुत्रको पत्नीके अङ्कसे लेकर उन्होंने कंधेपर बैठाया और कुटीरका परित्याग कर दिया ।

'पिताजी ! अपनी वह अरुणनील पुष्पित भूमि, वे केशरकी क्यारियाँ और वह उत्पल, इन्दीवर, कह्लार, सरोजसे सजा सरोवर । हम अब अपने उसी आश्रममें चलेंगे ।' बालकको पूर्व स्मृतिने उल्लसित कर दिया था । 'मैं खञ्जन-शावकोंके पीछे धीरे-धीरे चलूँगा । हंसोंको धान चुगाऊँगा और अंगूरके गुच्छोंसे आपकी अग्निशालाको सजाऊँगा ।' उसने दोनों हाथ उठा लिये और खिल उठा ।

'निष्पत्रा कण्टकाकीर्ण वल्लरियाँ, अनाच्छादित वीतराग कल्पविशाल तरु, शतशः विदीर्णवक्षा जलहीना भूमि, उग्र परुषकण्ठ उलूक तथा सम्यक् असित काक ।' आचार्यकी वाणीमें काश्मीरका कवित्व जाग्रत् हुआ, उन्होंने पुत्रको स्नेहसे पुचकारा । 'वत्स, विश्वात्माका अपार सौन्दय सभी कहीं उन्मुक्त है । ब्राह्मण किसकी कामना करे । सर्वेशका कौन-सा उपहार असुन्दर एवं अग्राह्य है । अपनी अल्पबुद्धि कभी अग्निकी अरुणिमा-पर मुग्ध होकर उसे चयन करनेको प्रेरित करती है और कभी सर्पको आभूषण बनानेकी भ्रान्ति उत्पन्न करती है । तुम कुछ मत चाहो । उस मङ्गलमयको निर्बाध चयन करने दो कि वह तुम्हारे जीवनको उच्चतम-की ओर सञ्चालित कर सके । अपने परम कल्याणके लिये अपनेको उसपर छोड़ दो और अपनी इच्छाको बाधक मत बनने दो ।' भोला बालक—वह क्या समझे इस तत्त्वज्ञानको । उसे इतना जान पड़ा कि पिता किसी अधिक अच्छे आश्रमका वर्णन कर रहे हैं । वह सोचने लगा कि क्या होगा उस आश्रममें ।

× × × ×

[३]

'नारायण हरिः !' एक उच्च ध्वनि आयी । मध्याह्न-सन्ध्या समाप्त करके परिवारके लोगोंके अतिरिक्त सेवकों-ने भी भोजन कर लिया था और कुत्ता अपना भाग पाकर गीली भूमिको पंजोंसे कुरेद रहा था । ग्रीष्मकी ज्वालासे बचनेके लिये वह यहाँ शयन करेगा । अब

तो ग्राममें किसी भी घरसे धुआँ दिखायी देना सम्भव नहीं । गृहपतिने देखा घरमें । रोटीका केवल एक टुकड़ा । भला संन्यासीको यह कैसे दिया जावे । दूधमें जाँवन डाल दिया गया था और दधि समाप्त हो चुका था । विवश होकर वे उसीको लेकर शीघ्रता-पूर्वक द्वारपर आये ।

'देव!' बुलाना व्यर्थ था । भ्रम हुआ था गृहपतिको। समीपके भवनद्वारपर संन्यासीने पुकारा था । अपने पैरोंसे एक हाथ आगे पृथ्वीकी ओर देखते वे कौपीन-धारी केवल नारिकेल-पात्र करमें लिये आगे चले गये । पात्र खाली था । बहुत सम्भव है, दूसरे घरमें एक टुकड़ा भी शेष न रहा हो । जब एक द्वारपर भिक्षा-याचना हो चुकी तो उससे लगे भवनसे भिक्षा स्वीकृत नहीं हो सकती । वे दो-तीन भवन आगे गये और तब वही ध्वनि ।

गृहपतिने देखा, यह तेजोमूर्ति । श्रद्धाविवश वे पीछे हो लिये । कई भवनोंका अन्तर देकर पाँच बार वह ध्वनि और हुई और वे सरिताकी ओर गये । कुछ रोटीके टुकड़े, चावलके दाने तनिक-सा शाक, दाल, कुछ पायस और भी कई पदार्थ दूरसे दृष्टि पड़े उस पात्रमें । एक छोटा-सा गैरिक वस्त्रखण्ड कंधेसे उन्होंने उठाकर पात्रको ढक करके सरितामें डुबाया । भली प्रकार मिश्रित अन्न धो दिया गया । दो आवृत्तियाँ और हुई इस क्रियाकी । कठिनतासे दो छटाँक अन्न होगा पात्रमें । उसमेंसे भी थोड़ा-सा निकालकर एक स्वच्छ पाषाणपर रख दिया गया । शेषको ग्रहण करके पूरे पात्रभर जल पिया उन्होंने ।

'देव !' अश्वत्थके नीचे बैठ जानेपर गृहपतिने प्रणाम किया । 'यह अभागा है । एक दाना अन्न भी आतिथ्यमें अर्पित नहीं कर सका । कल प्रभु दासके गृहको पावन करें ।' आग्रह मूर्तिमान् हो गया था ।

'भद्र ! धर्ममें तुम्हारी रुचि हो ।' संन्यासीका कोई अङ्ग हिला नहीं । 'सबको अपनी मर्यादामें रहना चाहिये और दूसरोंको रखनेका प्रयत्न करना चाहिये । श्रद्धाके आवेगमें मर्यादा विस्मृत हो गयी है तुम्हें । आजकी भिक्षा हो चुकी और एक रात्रिसे अधिक एक ग्राममें संन्यासीको नहीं रहना चाहिये । संन्यासी आमन्त्रित भिक्षा ग्रहण नहीं किया करता ।' सत्यसे पवित्र वाणी आग्रहको अवकाश ही नहीं रहने देती ।

'प्रभो ! मैं एक अनुष्ठान करना चाहता हूँ ।' गृहपति बहुत समयसे किसी योग्य महात्माके अन्वेषणमें थे । 'भय तो मुझे लगता नहीं । विधिनिर्देशकी कृपा हो तो मैं चामुण्डाको संतुष्ट करनेका इच्छुक हूँ ।' कामनाने जिसके विवेकको ढक दिया है, वह उचित-अनुचितका विचार नहीं करता ।

'राजस और तामस उपासना जीवके बन्धनको और सुदृढ़ करती है ।' महात्माने सावधान किया । 'इस प्रकारके अनुष्ठानोंको सत्शास्त्र श्रेष्ठ नहीं बताया करते । मेरा इस प्रकारका कोई अध्ययन नहीं ।' अपनी असमर्थता प्रकट करनेमें योग्य पुरुष संकोच नहीं करते ।

'पितामहके समयसे ग्रन्थोंका विस्तृत संग्रह चला आता है ।' गृहपतिने आग्रह किया । 'आपके आदेशसे अन्य भी उपस्थित हो सकते हैं ।' स्वार्थ अन्धा होता है । पुस्तकीय ज्ञान ही किसीको शीलसम्पन्न नहीं बनाता । वे यह भी नहीं सोचते थे कि एक साधु उन ग्रन्थोंका अध्ययन करके अनुष्ठान बतानेमें लगे तो वे स्वयं क्यों न ग्रन्थ पढ़ लें ।

'मेरे लिये तो भगवान्‌के ये दिव्यादेश ही बहुत हैं ।' एक छोटी-सी श्रीमद्भगवद्गीताकी पुस्तक गैरिक वस्त्रमें आवेष्टित थी । साधुने संकेत किया उधर ।

'लोककल्याणके लिये ही आपने त्याग किया है ।' स्वार्थने पाण्डित्य-प्रदर्शनपर बाध्य किया । 'मेरे कल्याणके लिये आपको कष्ट करना चाहिये । प्राणियोंका मङ्गल होगा इसमें ।' शास्त्रार्थकी चुनौतीकी भूमिका बन गयी ।

'लोककल्याण—लोक जिसने बनाये हैं, वह उनके कल्याणके लिये नित्य सावधान है। क्षुद्र अहङ्कार, सीमित शक्ति लोकका क्या कल्याण करेगी।' संत गम्भीर बने रहे। 'आप मुझे क्षमा करें। शास्त्रार्थ करनेमें मैं असमर्थ हूँ। आपकी जो धारणा है, उचित हो सकती है। मैं अपनी शक्ति जानता हूँ।' वे मानो प्रार्थना कर रहे हों।

'भगवद्गीताको आप जीवके कल्याणका पथ तो मानते ही हैं।' माया और मानव-मनका स्वभाव है कि जहाँसे वह रोका जाता है, वहीं पहुँचनेका प्रयत्न करता है। 'मैं गीताका अध्ययन करना चाहता हूँ। आप उसकी व्याख्या लिखानेका अनुग्रह करें।' पाण्डित्यको विफल होते देख नीतिका आश्रय लिया गया

'संन्यासीका क्या ठिकाना कि वह कहाँ रहेगा। अध्यापन होता है एक स्थानपर रहनेसे।' सरल संत छलछद्मका क्या विचार करें। 'व्याख्या करनेमें न तो मेरी प्रवृत्ति है और न अधिकार।' उन्होंने सीधी बात कह दी।

'ग्रामसे दूर ब्राह्मणबालकोंका एक ऋषिकुल है। एकान्त शान्त उपवनमें सुरम्य कुटी आत्मचिन्तनके अत्यन्त उपयुक्त होगी।' गृहपतिने प्रलोभन दिया। 'केवल थोड़े समय गीताका अध्ययन आप बालकोंको करा दिया करें। मैं भी अध्ययन कर लूँगा। भिक्षाके लिये भी कष्ट नहीं होगा। उन ब्रह्मचारियोंकी पवित्र भिक्षा शास्त्रसम्मत है और संन्यासी परिव्राजकके साथ कुटीचक भी हो ही सकता है। इस प्रकार एक शुभ कार्य सम्पन्न होगा।' आशा थी कि यह प्रस्ताव स्वीकृत हो जायगा।

'किसी भी प्रकारकी निश्चित आजीविका शास्त्र-विहित नहीं। कुटीचक होनेका विधान है जराजीर्ण, रुग्ण एवं असमर्थ शरीरोंके लिये। अध्ययन, अध्यापनका या कोई भी प्रारम्भ अब अनावश्यक हो गया है और बुद्धिकी उसमें प्रेरणा नहीं। शुभ या अशुभ लोकत्रयका न्यास करनेके पश्चात् किसका आचरण किया जाय और किसलिये?' उन्होंने समझानेका प्रयत्न किया। 'भिक्षा जहाँतक सम्भव होता है वानप्रस्थाश्रमियोंके नीवारसे सम्पन्न होती है। आजकी भाँति कभी-कभी ग्राममें आनेको विवश होता हूँ। एक योजनसे अधिक पर्यटन थकावटका कारण होता है और श्रान्ति प्रमादकी जननी है। आज एक योजनके अन्तर्गत कोई वानप्रस्थाश्रमी मार्गमें प्राप्त न हुआ।' भला पत्थरपर पिसे श्यामाककी भिक्षापर निर्वाह करनेवालेको सुस्वादु पदार्थों-का क्या प्रलोभन।

'जब शुभाशुभका ध्यान नहीं तो भिक्षाकी आवश्यकता भी क्या।' रोष आ गया वाणीमें। 'क्यों अनशन करके शरीर त्याग नहीं कर देते। जीवनसे भी क्या प्रयोजन। आपने तो दण्ड भी कहीं प्रवाहित कर दिया है।' व्यंग किया जा रहा था।

'प्रारब्धप्रेरित शरीर चल रहा है। प्रकृतिप्रेरित आहारादि कर्म सम्पन्न होते हैं।' वहाँ उत्तेजनाका नाम नहीं था। 'जीवन रहे, यह आवश्यक नहीं; किंतु मृत्युका आग्रह भी किसलिये? शरीर हानि नहीं करता अपनी कुछ। वाक्संयम, वासनाका निरोध और प्राणायाम—ये वाणी, चित्त एवं शरीरके त्रिदण्ड धारण कर लेनेपर बाहरी बाँसका दण्ड अनिवार्य नहीं होता। भद्र! क्षुभित होनेका कोई कारण नहीं। प्रत्येक व्यक्ति अपनी ही इच्छासे प्रेरित व्यवहार करता है। दूसरेकी प्रेरणा सदा सफल नहीं होती।'

'मैं केवल एक अनुरोध करूँगा।' गृहपतिने मस्तक झुकाया। 'ग्राममें एक शास्त्रार्थ है। आज सायं आप उसकी मध्यस्थताकी स्वीकृति दें।' अपनी विजयकी उन्हें पूरी आशा थी और मध्यस्थ निष्पक्ष हो, यह उद्देश्य था।

'ओह! आप पण्डित हैं।' मन्द मुसकान आयी

मुखमण्डलपर । 'शास्त्राभ्यास छोड़े मुझे बहुत समय हो गया और तर्कमें कोई रुचि नहीं । मन एकाग्र करके शुष्कवाद-श्रवणमें अमूल्य समय नष्ट करना संन्यासीके उपयुक्त कार्य नहीं ।'

'मैं परिचय जान सकूँगा ?'

'विद्वान् होकर भी आप संन्यासीसे पूर्वाश्रमका परिचय पूछते हैं । शास्त्र आदेश नहीं देता ।' अब उन्होंने आसन लगाया और सीधे बैठ गये ।

'देव ! इस दासकी प्रतीक्षा सार्थक हुई । अब तो इसे अपने चरणोंमें ही स्वीकार कर लें ।' पासकी कुटी-से एक जटाधारी वृद्ध निकले और महात्माके चरणोंपर गिर पड़े ।

'महामन्त्री !' संन्यासी चौंके । उन्होंने वृद्धको उठाया । पण्डितजी वृद्धको जानते थे । अब वे सङ्कुचित हो गये । 'क्या पता था कि सरितातीरपर आपने वानप्रस्थ ग्रहण कर लिया है ।' जैसे अनेक स्मृतियाँ आयीं और चली गयीं । दो क्षणमें ही वे शान्त हो गये पहलेसे ।

'कुटियामें मध्याह्न-कृत्यके पश्चात् आवश्यक जपमें लगनेसे यह भूल हुई ।' वृद्धने क्षमा-याचना की । 'इस वृद्धावस्थामें एक वर्षका ही तृतीयाश्रम सम्भव था । आज वह अवधि पूर्ण हुई और प्रभुके दर्शन हुए । अब आज्ञा दें कि मैं आवश्यक सामग्री प्रस्तुत करूँ ।' हर्ष, उल्लास, श्रद्धा, सबने उन्हें चञ्चल कर दिया था ।

'उत्कट इच्छा सफल होती है । यदि दीक्षाकी आवश्यकता होगी तो उसे देनेवाला भी प्राप्त होगा ।' संत स्वस्थचित्त समझा रहे थे । 'शिष्य न करनेका मैंने नियम किया है और आप मेरे नियममें बाधा उपस्थित करेंगे, ऐसी तो आशा नहीं ।'

'कैसा है यह भिक्षु !' पण्डितजी सोच रहे थे । 'पाञ्चालके महामन्त्रीको भी शिष्य बनाना उसे स्वीकार नहीं !' अभिवादन करके उठ गये वे वहाँसे ।

× × ×

[४]

'महाराजको पश्चात्ताप हुआ और उन्होंने तीसरे ही दिन अन्वेषणका आदेश दिया !' वयोवृद्ध महामन्त्री पूर्व स्मृतिको दुहरा रहे थे । मेरा समस्त प्रयत्न व्यर्थ रहा । पिछले वर्ष मैंने चिरंजीव अनन्तरुचिको प्राप्त किया और उन्होंने ही अनुग्रहपूर्वक इस वृद्धको कार्यभारसे मुक्त करके प्रभुके चरणोंमें लगनेका अवकाश दिया । असमर्थ ही रहे वे भी श्रीचरणोंका कोई समाचार देनेमें । चतुर्वर्षीय वानप्रस्थके पश्चात् श्रीपादका कोई समाचार उन्हें प्राप्त नहीं हुआ ।' उस युगमें जब पैदल पर्यटन ही सम्भव था, एक अकिञ्चन विप्रपरिवार अनन्त विराट्के किस कोनेमें है, किस प्रकार उसका पता लगता ।

'आप अग्निन्यास करनेको उत्सुक हैं और अभी पूर्वस्मृतियोंका परित्याग कर नहीं सके ?' स्वरमें स्नेह-पूर्ण उलाहना था । 'एक ही सौन्दर्यराशि जो प्रत्येक रूपमें भासमान है, उसीमें अन्तरके सम्पूर्ण अनुरागको एकत्र करके विश्वके सम्पूर्ण मोहसे परित्राण प्राप्त कर लेना संन्यासका उद्देश्य है । विधि एवं निषेधसे परे, अहं-त्वंकी सीमाको समाप्त कर जो आनन्दघन विराजित है, उसमें चित्तको व्यवस्थित कीजिये । ' पुत्र पाञ्चालका महामन्त्री हो गया, इस समाचारका जैसे उस हृदयसे कोई सम्बन्ध ही नहीं था

'सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् अपना ही स्वरूप है । 'अहम्'को व्यापक करके उसमें 'त्वम्'को लीन करके जो आत्मोपलब्धि होती है, उससे 'ममत्व' दूर हो जाता है या मम भी अपना स्वरूप हो जाता है ?' विद्वान् वृद्धने विवाद नहीं उपस्थित किया था । वे सचमुच उलझन-को सुलझाना चाहते थे । सच्चे जिज्ञासुका तिरस्कार किसीके द्वारा सम्भव नहीं । वे जानना चाहते थे कि जब सब अपने ही स्वरूप हैं तो क्यों संन्यासीको पूर्वाश्रमकी स्मृतिसे भी दूर रहना चाहिये ।

'यह तो अधिकार-भेदकी बात है साधुके नेत्र

अर्धोन्मीलित हो रहे थे और वाणी मन्द होती जा रही थी। 'मम' जब 'अहम्'में लीन होता है तो 'त्वम्' और 'तव' उससे भिन्न नहीं हुआ करते। यदि ऐसा न हो तो जड़ताकी ही उपलब्धि होगी। 'अहम्'में 'त्वम्'का पर्यवसान बुद्धिकी विशुद्ध व्यवस्थितिपर निर्भर करता है; किंतु 'त्वम्'में 'अहम्'का उत्सर्ग—अणु-अणुकी सत्ताको समाप्त करके जो कृपावारिधर उद्भासित हो रहा है, उसकी मधुरिमामें मन स्वतः लय हो जायगा।' नेत्रोंने अनवरत धाराएँ प्रवाहित करना प्रारम्भ किया। रोम-रोम सतर्क मस्तक उठाकर जैसे उनकी रक्षा करने लगा। प्रत्येक रोमकूपसे अन्तःकी रसधारा बाह्यद्रव बनकर प्रकट हो गयी।

वयोवृद्ध मन्त्री—उन्होंने अनुभव किया कि एक दिव्य सुगन्धि व्याप्त हो गयी है। संन्यासीके मुखमण्डलसे एक अपूर्व ज्योति प्रकट हो रही है और तब उनकी चेतना डूबने लगी किसी अज्ञात आकर्षणमें आबद्ध होकर। बाह्यका सम्पूर्ण स्नेह जिसके अन्तरमें एकत्र हो गया है और अनुरागकी उस रज्जुसे जिसने उस चपल आनन्दघनके चरणाम्बुज पकड़ लिये हैं, जब वह अपने-आपको एकाग्र करता है उन श्रीपदोंमें, समीपकी चेतना विवश होकर आकर्षित होती डूबती जाती है। महामन्त्रीने जब अपनेको सम्हाला, हृदयमें आनन्द-सिन्धु उल्लसित हो रहा था और शरीर संन्यासीके पद-प्रान्तमें पड़ा था। आप इसे शिष्यके आत्मनिवेदनके पश्चात् गुरुकी शक्तिमयी दीक्षा कहें तो कह सकते हैं।

एकान्तकी महिमा

(लेखक—साधुवेषमें एक पथिक)

अनेकों बार मनुष्य एकान्तके द्वारा बड़ी-बड़ी समस्याओंको हल कर लेता है, बड़े-बड़े लाभके साधनोंको खोज निकालता है, खोयी हुई शक्ति और शान्ति प्राप्त करता है फिर भी एकान्तकी महिमा नहीं जान पाता और इसीसे जो बड़े-बड़े लाभ स्वतन्त्रतापूर्वक एकान्त-सेवनसे सिद्ध होते हैं, उन्हींके लिये परतन्त्रताके पथमें भटकता फिरता है।

बुद्धिमत्ता प्राप्त करनेके लिये, यथार्थ ज्ञानके लिये, शक्ति तथा शान्तिके लिये द्वार खुले हुए हैं, उन द्वारोंमें कोई भी एकान्त-पथका आश्रय लेकर प्रवेश कर सकता है और बुद्धिमत्ता, ज्ञान, शक्ति तथा शान्तिसे अपने जीवनको समृद्ध और सम्पन्न बना सकता है।

जगत्में समय-समयपर मानव-जातिको प्रकाश देनेवाले जितने भी महापुरुष हुए हैं या वर्तमान कालमें हैं; प्रायः वे सभी एकान्तका ही आश्रय लेकर क्रियाओंके कोलाहलको पारकर आत्माकी नीरवता तथा प्रशान्त गम्भीरतामें स्थिर हो सके हैं और वहींपर उन्हें सर्वोपरि महत्ता प्राप्त हुई है, ऐसे ही लोग भोग-सुखोंके पथमें अधीर होकर दौड़नेवाले अस्त-व्यस्त चञ्चल मनुष्योंका पथ-प्रदर्शन करते हैं, इन्हींके द्वारा अधःपतित मानव-जातिका कल्याण होता है।

सभी व्यक्ति एकान्तसेवी नहीं हो सकते; क्योंकि सर्वसाधारण मानव एकान्तका महत्त्व नहीं जानते। जो अपनी इन्द्रियोंको वशमें करनेके लिये एकान्त-निवास करता है, जो अपने मनको विषय-स्मरणसे मोड़कर भगवान्के पवित्र स्मरणमें लगाकर, वृत्तियोंको अन्तर्मुखी बनाकर योगके पथमें अग्रसर होता है, वही एकान्तका सर्वोत्कृष्ट लाभ प्राप्त करता है।

एकान्त-सेवनसे अपने अन्तःकरणमें सबसे गहरे उतरनेवाली वस्तुओंका, अर्थात् वासनाओंका ज्ञान होता

है। जिस प्रकार अधिक देरतक बाहर काम करनेवाला व्यक्ति थककर अपने कमरेमें जब विश्राम करता है तो पहलेसे संगृहीत वस्तुओंपर दृष्टि जाते ही निर्णय करता है कि उनमें क्या-क्या सार्थक हैं; शुद्ध, सुन्दर और कीमती हैं; क्या निरर्थक, अनावश्यक, असुन्दर और तुच्छ हैं। उसी प्रकार साधक एकान्तमें ही अपने भीतरकी सार्थक या निरर्थक, सुन्दर या असुन्दर, हितप्रद या अहितप्रद वासनाओं, इच्छाओंका निर्णय करता है और वहींसे अन्तःकरणको शुद्ध करनेकी शक्ति मिलती है तथा शक्तिके सदुपयोगकी योग्यता बढ़ती है।

दिनके आरम्भमें एकान्तसेवनसे सारे दिनके समस्त कर्मोंका शुद्ध चित्र बना लिया जाता है और दिनके अन्तमें एकान्तसेवनसे दिनभरमें किये गये कर्मोंका ठीक-ठीक दर्शन होता है, इससे भविष्यके लिये कार्य-कुशलताकी वृद्धि होती है। जिस प्रकार बाजारमें घूमनेवाला मनुष्य अपने घर लौटकर एकान्तमें अपने कपड़े उतारता है और अपने वस्त्रहीन शरीरकी अच्छाई-बुराईका दर्शन करता है, उसी प्रकार साधक एकान्तमें अपने ऊपर चढ़े हुए आवरण उतार कर निरावरण स्वरूपको देख पाता है। एकान्तमें ही जब इन्द्रियाँ मौन हो जाती हैं, जब मन चुप हो जाता है और बुद्धि स्थिर हो जाती है, आत्माका दिव्य दर्शन होता है, उसकी दिव्य वाणी सुनायी देती है। एकान्तसेवनसे ही चित्तवृत्ति शुद्ध ज्ञान तथा पवित्र प्रेमकी अनुगामिनी बनती है और तभी समग्र जीवन ज्ञानालोकमें प्रेममय हो जाता है। जब-जब बाह्य आमोद-प्रमोदजनित सुखसे चञ्चलता बढ़ती है, थकावट आती है और मानसिक निर्बलता उत्पन्न होती है, एकान्तसेवनसे ही उस क्षतिकी पूर्ति हो पाती है।

किसी जनशून्य स्थानपर पहुँचनेमात्रसे ही पूर्ण एकान्त नहीं हो जाता। जब इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि भी एकान्तसेवी हों तभी पूर्ण एकान्त सिद्ध होता है। जब अनेकों शरीर न दिखायी दें, जब हम अपने-आपको शरीरकी दृष्टिसे अकेला पाते हों तो यह शरीरमात्रके लिये एकान्त हुआ। इसके साथ ही जब इन्द्रियोंके लिये विविध विषय-पथ बंद हो जायँ तो इन्द्रियोंका एकान्त सिद्ध होता है। जब मनकी विषयोन्मुखी वृत्तियोंको रोककर योग-पथमें झुकाया जाता है और सङ्कल्पों, विकल्पों, इच्छाओंका अच्छी तरह निरोध कर दिया जाता है, तब मनका एकान्तसेवन सिद्ध होता है। इसी प्रकार बुद्धिके आगे जगत्-प्रपञ्च अथवा दृश्यमय द्वैत-दृष्टि जब नहीं रह जाती तो बुद्धि एकान्तनिष्ठ हो जाती है और इसके भी आगे जो कुछ भी हम अपना मानते हों उससे अपने आपको निकाल लेनेपर अहं एकान्त-सेवी हो जाता है। इस विधिसे जब शरीर, इन्द्रियाँ एवं मन, बुद्धि और अहं सभी एकान्तसेवी होते हैं तभी अचञ्चलता, शुद्धता, शक्तिशीलता, यथार्थ ज्ञान तथा पवित्र प्रेम और परम शान्तिकी सिद्धि सुलभ होती है।

अनेकताका जहाँसे आरम्भ होता है और अनेकताका जहाँ अन्त होता है, वहीं वास्तविक एकान्त है। एकान्तसे ही संसारका आरम्भ और एकान्तमें ही संसारका अन्त है, ऐसे एकान्तका जो आश्रय लेता है, उसीको संसारातीत सर्वाधार सत्यका परम गाढ़ अनुभव होता है।

एकान्तसेवी पुरुष साधनाभ्यासद्वारा सर्वसङ्गत्यागी होकर सत्यानन्दके नित्य योगी होते हैं। जो मनुष्य दुःखोंसे निवृत्ति चाहते हों, असत्-प्रपञ्चसे मुक्त होकर सत्यकी भक्ति चाहते हों, अन्तःकरण शुद्ध करनेवाली निष्काम सेवाके लिये शक्ति चाहते हों और जिससे शान्ति प्राप्त होती हो, ऐसी सांसारिक भोग-सुखोंसे विरक्ति चाहते हों वे क्रमशः नित्य ही कर्तव्य-कर्मोंको पूर्ण करते हुए समय निकालकर एकान्तमें साधनाभ्यासी बनें और असङ्गताद्वारा दिव्य समृद्धि प्राप्त करें।

चातक चतुर राम स्याम घनके

(लेखक—पं० श्रीरामकिङ्करजी उपाध्याय)

[गताङ्कसे आगे]

अनन्यता

(५)

मानसके सप्तम सोपानमें भगवान् श्रीराघवेन्द्रने अपने परमभक्त श्रीकागजीको जो 'निज सिद्धांत' सुनाया है वह मानो मानसका सार-भाग है। प्रभु एक परम अधिकारीके समक्ष अपना हृदय खोल देते हैं। वहाँ वे अपनी वाणीकी प्रशंसा करते हुए आदि, मध्य और अन्त तीनोंमें उसे 'सत्य' बताते हैं—

यथा—

(१) अब सुनु परम बिमल मम बानी।
'सत्य' सुगम निगमादि बखानी॥

(२) पुनि पुनि 'सत्य' कहउँ तोहि पाहीं।
मोहि सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं॥

(३) 'सत्य' कहउँ खग तोहि सुचि सेवक मम प्रान प्रिय।
अस बिचारि भजु मोहि परिहरि आस भरोस सब॥

श्रीकागजीके मनमें एक जिज्ञासा थी कि प्रभु विभिन्न स्थलोंपर विभिन्न व्यक्तियोंको अपना 'प्रिय' बताते हैं। उनमें भी प्रभुको 'सर्वाधिक प्रिय' कौन है? प्रभु भी अति प्रसन्न होकर अपना रहस्य व्यक्त कर देते हैं। प्रियताका स्वरूप बतानेके लिये उन्होंने एक ऐसे पिताका उदाहरण दिया जिसके अनेक पुत्र हैं जो स्वभावतः विभिन्न रुचि और विभिन्न स्वभावोंके हैं। एक पण्डित, दूसरा तपस्वी, तीसरा ज्ञानी, चौथा धर्मी, पाँचवाँ वीर, छठा दाता, सातवाँ सर्वज्ञ और आठवाँ धर्मरत है। पिताको सभी प्रिय हैं। पर एक पुत्र ऐसा भी है, जो एक पिताको छोड़कर और कुछ भी नहीं जानता। अन्य गुणोंसे सम्पन्न न होनेपर भी स्वभावतः पिताका उसपर विशेष स्नेह होता है।

एक पिता के बिपुल कुमारा। होहिं पृथक गुन सील अचारा॥
कोउ पंडित कोउ तापस ग्याता। कोउ धनवंत सूर कोउ दाता॥
कोउ सर्वग्य धर्मरत कोई। सब पर पितहि प्रीति सम होई॥
कोउ पितु भगत बचन मन कर्मा। सपनेहुँ जान न दूसर धर्मा॥
सो सुत प्रिय पितु प्रान समाना। जद्यपि सो सब भाँति अयाना॥

इस सिद्धान्तको सुनाते हुए प्रभुने अपना भी स्वभाव वैसा ही बताया और 'काग' को भी सब कुछ छोड़कर भजन करनेका उपदेश दिया—

प्रारम्भमें कहा—

निज सिद्धांत सुनावउँ तोही।
सुनु मन धरु सब तजि भजु मोही॥

अन्तमें कहा—

अस बिचारि भजु मोहि परिहरि आस भरोस सब।

आइये, इस 'निज सिद्धांत' के दृष्टिकोणसे हम एक दृष्टि डालें। 'मानस' में प्रभुके अनेक पुत्र (भक्त) हैं और सभी हैं बड़े योग्य। उनमें कुछ तो ऐसे हैं जो सर्वसद्गुण-सम्पन्न हैं। पर 'सपनेहुँ जान न दूसर धर्मा' की कसौटीपर तो मानसका यह 'अनन्य प्रेमी चातक' ही खरा उतरता है। गङ्गा, यमुना बड़ी पवित्र नदियाँ हैं। शास्त्रों-पुराणोंमें उनकी महिमा भरी पड़ी है। उनका सेवन करनेवाले धन्य हैं, इसमें कोई संदेह नहीं; पर भला चातकको यह बात कैसे समझायी जाय? इस 'स्वाति-सनेही' से कौन-सा तर्क किया जाय। और तर्क करनेपर भी क्या उसका मानना सम्भव है?

गंगा जमुना सरस्वति हैं जग में भरपूर।
तुलसी चातक के मते स्वाति बिना सब धूर॥

वह तो बाणविद्ध होकर—गङ्गामें गिरनेपर भी—गङ्गा-जल मुखमें न चला जाय इसके लिये मुख बंद कर लेता है। क्या इससे उसको गङ्गा-अवहेलनाका अपराधी मानकर हेयदृष्टिसे देखा जायगा? कोई प्रेमतत्त्वानभिज्ञ ही उसे हेय कह सकता है। चातक तो गूढ़ प्रेम-पथका सच्चा पथिक है। इसीसे तो श्रीगोस्वामीजी उसके लिये दोहावलीमें कहते हैं—

होइ न चातक पातकी जीवन दानि न मूढ़।
तुलसी गति प्रह्लाद की समुझि प्रेम पथ गूढ़॥

'सपनेहुँ जान न दूसर धर्मा' में ही श्रीलक्ष्मणजीकी अन्य भक्तोंकी तुलनामें कम लोक-प्रियताका कारण भी निहित है। यह स्वाभाविक ही है कि समाजमें धार्मिक, वीर, दाता आदिकी अधिक प्रशंसा हो। समाजके तो जो काम आवे वह उसे ही जानता है। जो व्यक्ति पिताको छोड़कर शेष कोई

कार्य नहीं करता है, उसकी निष्ठा और प्रेमको तो केवल पिता ही जानता है। दूसरे उसके महत्त्वको कैसे जान सकते हैं?

चलिये उस अनन्यताकी एक झाँकी देखनेके लिये अवधके राजमहलोंकी ओर। प्रभुके वनगमनका दुःखद अवसर उपस्थित है। श्रीलक्ष्मणने भी यह समाचार सुना। प्रभुके वनगमनका समाचार सुनते ही श्रीलक्ष्मणजीकी जो अवस्था हुई, उसका श्रीगोस्वामीजीने बड़ा ही मार्मिक एवं करुण चित्रण किया है। यद्यपि श्रीलक्ष्मणजीसे प्रभुका वियोग नहीं हुआ। और हो भी कैसे? प्रेम-सिद्धान्तके आचार्योंका कथन भी तो यही है—

कैतवरहितं प्रेम न हि भवति मानुषे लोके।
यदि भवति कस्य विरहो विरहे सत्यपि को जीवति॥

मनुष्यलोकमें निष्कपट प्रेम तो होता ही नहीं। यदि हो तो फिर विरह कैसे सम्भव है। और यदि विरह हो भी जाय तो फिर जीवित रहना कैसे सम्भव है?

पर भावी विरहकी रंचमात्र कल्पनासे उस महाप्रेमीकी जो अवस्था हुई वह बड़ी विलक्षण है। श्रीगोस्वामीजीके शब्दोंमें ही उसे पढ़िये—

समाचार जब लछिमन पाए। ब्याकुल बिलख बदन उठि धाए॥
कंप पुलक तन नयन सनीरा। गहे चरन अति प्रेम अधीरा॥
कहि न सकत कछु चितवत ठाढ़े। मीनु दीन जनु जल तें काढ़े॥
सोचु हृदयँ बिधि का होनिहारा। सबु सुखु सुकृतु सिरान हमारा॥
मो कहुँ काह कहब रघुनाथा। रखिहहिं भवन कि लेहहिं साथा॥
राम बिलोकि बंधु कर जोरें। देह गेह सब सन तृनु तोरें॥

'मीनु दीन जनु जल तें काढ़े' इससे बढ़कर उनके प्रेमके लिये उपमा भी तो लोकमें नहीं प्राप्त हो सकती। मीन-जैसा प्रेम ही तो प्रेमियोंका आदर्श है। पूज्यपाद श्रीगोस्वामीजी भी उसीकी प्रशंसा करते हैं।

मीन कमठ दादुर उरग जल जीवन जल गेह।
तुलसी एकै मीन को है साँचिलो सनेह॥

कुछ ही क्षणोंमें उनमें आठों प्रेमगत भावोंका उदय हो जाता है—

(१) स्तम्भ } —समाचार जब लछिमन पाए।
(२) प्रस्वेद } ब्याकुल 'बिलख बदन' उठि धाए॥

परंतु यह भाव रुका नहीं; क्योंकि प्रभुके साथ रहनेकी आतुरता जो है।

(३) कम्प } कंप
(४) पुलक } पुलक तन
(५) अश्रुपात } नयन सनीरा। गहे चरन अति प्रेम अधीरा॥
(६) स्वरभंग—उतरु न आवत प्रेम बस।
(७) वैवर्ण्य—सिअरें बचन सूखि गए कैसें।
(८) प्रलय—देह गेह सब सन तृनु तोरें।

ऐसी विलक्षण स्थिति हो गयी थी क्षणिक वियोगकी झूठी कल्पनासे उस महाप्रेमीकी।

काँपता हुआ शरीर, आँखें प्रेमाश्रुओंसे भरी हुईं, वे पकड़ लेते हैं प्रभुके युगल चरण-कमलोंको अधीर होकर। कण्ठ रुद्ध हो रहा है, कहनेकी इच्छा होते हुए भी कुछ बोल नहीं पाते। पर बिना कहे ही उनका रोम-रोम कह रहा है।

धर्मधुरीण प्रभुने उन्हें उपदेश देना प्रारम्भ किया—'वत्स लक्ष्मण! प्रेमवश होकर कायरता मत दिखाओ। मङ्गलमय परिणामकी ओर दृष्टि रक्खो। जो लोग माता, पिता, स्वामी और गुरुजनोंकी आज्ञाओंको मस्तकपर धारण करते हैं और उसका ठीक-ठीक निर्वाह भी करते हैं वे ही धन्य हैं। जो ऐसा नहीं करते उनका जन्म व्यर्थ है। भैया! इसलिये तुम यहाँ रहकर माता-पिताके चरणोंकी सेवा करो। फिर तुम देख ही रहे हो कि भरत और शत्रुघ्न भी यहाँ नहीं हैं। महाराज वृद्ध हैं और उसपर भी मेरे वियोगसे व्यथित हैं। ऐसी परिस्थितिमें तुम्हें साथ वन ले जाना, अयोध्याको अनाथ कर देना है। लक्ष्मण! यहाँ रहकर सबको सान्त्वना देना तुम्हारा कर्तव्य है। नहीं तो तुम बहुत बड़े दोषके भागी माने जाओगे। जिस राजाके राज्यमें प्रजा दुखी हो, वह निश्चित रूपसे नरकका अधिकारी है ऐसा सोचकर तुम घरमें ही निवास करो।

अस जियँ जानि सुनहु सिख भाई। करहु मातु पितु पद सेवकाई॥
भवन भरतु रिपुसूदनु नाहीं। राउ बृद्ध मम दुखु मन माहीं॥
मैं बन जाउँ तुम्हहि लेइ साथा। होइ सबहि बिधि अवध अनाथा॥
गुरु पितु मातु प्रजा परिवारू। सब कहुँ परइ दुसह दुख भारू॥
जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृपु अवसि नरक अधिकारी॥
रहहु तात असि नीति बिचारी। × × × ×॥

पर उस 'अनन्य चातक' को यह बात समझायी नहीं जा सकी। प्रभुके वचन सुनते ही वे अत्यधिक व्याकुल हो गये। प्रेमके कारण कण्ठ रुद्ध हो गया। उत्तर देते नहीं बनता। प्रेमाकुल हो प्रभुके युगल चरण-कमलोंकी शरण लेते हैं। पर

कुछ-न-कुछ उत्तर देना पड़ेगा। आज चुप रहनेका अवसर कहाँ ? उनके पास तर्क-बल नहीं था। और न था शास्त्र-बल ही। उनके पास था केवल प्रेमपरिप्लुत पवित्र हृदय, जिसे उन्होंने अपने प्रभुके समक्ष खोलकर रख दिया। प्रभु ! आपने मुझे बड़ी सुन्दर शिक्षा दी। पर मेरी कायरता इतनी थोड़ी नहीं कि जो उपदेशसे नष्ट की जा सके; वह तो अगम्य है। पर एक बात मैं पूछूँ, क्या मरालसे कोई मन्दराचल उठानेकी आशा कर सकता है ? धर्मके जिन गहन तत्त्वोंका उपदेश आपने दिया, उसका मैं अधिकारी नहीं। श्रेष्ठ मनुष्य ही धर्मकी धुरीको धारण करनेमें समर्थ हो सकता है। मैं तो सर्वदा आपके स्नेहसे ही पालित हुआ हूँ। अशिष्टता न हो, तो कहूँ—मैं गुरु, पिता, माता और किसीको भी नहीं जानता। मेरे इस स्वभावपर विश्वास करें। संसारमें जहाँतक स्नेहके सम्बन्ध हैं, जिन्हें वेदोंने भी स्वीकार किया है, वे सब-के-सब आपके ही साथ हैं। आप ही एकमात्र मेरे स्वामी हैं, सब कुछ हैं। आप स्वयं मेरे स्वभावको समझ सकते हैं, क्योंकि अन्तर्यामी हैं। आपने धर्मका उपदेश दिया, पर धर्मका फल तो कीर्ति, ऐश्वर्य और मुक्ति है। मुझे ये सब नहीं चाहिये। आपका चरण-दर्शन करनेके बदले यदि मुझे नरक प्राप्त हो, तो उसे मैं वरदान ही समझूँगा। जो मन, कर्म और वचनसे केवल—एक आपके चरणोंको ही जानता हो, क्या आप-जैसे कृपासिन्धुके लिये उसका परित्याग करना उचित है ?

दीन्हि मोहि सिख नीकि गोसाईं। लागि अगम अपनी कदराईं॥
नरबर धीर धरम धुर धारी। निगम नीति कहुँ ते अधिकारी॥
मैं प्रभु सिसु सनेहँ प्रतिपाला। मंदर मेरु कि लेहिं मराला॥
गुर पितु मातु न जानउँ काहू। कहउँ सुभाव नाथ पतिआहू॥
जहँ लगि जगत सनेह सगाई। प्रीति प्रतीति निगमु निजु गाई॥
मोरें सबइ एक तुम्ह स्वामी। दीनबंधु उर अंतरजामी॥
धरम नीति उपदेसिअ ताही। कीरति भूति सुगति प्रिय जाही॥
मन क्रम बचन चरन रत होई। कृपासिंधु परिहरिअ कि सोई॥

प्रेमके सामने प्रभुके सारे तर्क समाप्त हो गये। उन्हें स्वीकार करना ही पड़ा। उपर्युक्त उद्धरणोंसे स्पष्ट हो जाता है कि श्रीलक्ष्मण—

कोउ पितु भगत बचन मन कर्मा। सपनेहुँ जान न दूसर धर्मा॥

—के अद्वितीय आदर्श हैं और इसीलिये प्रभुको 'सर्वाधिक प्रिय' भी हैं। प्रभुके शब्दोंमें 'प्रिय प्रान समाना' ये ही हैं।

कुछ लोग इस प्रसङ्गमें आज्ञापालनका अभाव पाते हैं। वे समझते हैं कि "इससे लक्ष्मणजी प्रेमके 'तत्सुखे सुखित्वम्' के आदर्शसे गिर गये। यदि प्रभुको अच्छा लगता था कि वे घर रुक जायँ, तो उन्हें रुक जाना चाहिये था।" पर बात ऐसी नहीं है। पहली बात तो यह है कि प्रभुको उनका घर रखना अच्छा लगता था या वनमें साथ ले जाना—इसपर भी प्रेमकी गहरी दृष्टिसे विचार किया जाय तो पता लगेगा कि श्रीराघवेन्द्र भी चाहते थे लक्ष्मण मेरे साथ चलें। इसीसे तो भगवान्‌की प्रेरणासे लक्ष्मणजीका प्रेम इस रूपमें प्रकट हुआ और भगवान्‌को इससे प्रसन्नता ही हुई।

दूसरी बात यह है कि सच्चा प्रेमी प्रियतमकी अपेक्षा उसके सुखको अधिक महत्त्व देता है। माताको बालकके प्रति जो स्नेह होता है क्या उसमें वह बालककी प्रत्येक आज्ञाका पालन ही करती है ? वह बालकसे अधिक उसके हितको जानती है। यहाँ यह भ्रम न होना चाहिये कि श्रीलक्ष्मणजी क्या मातृ-स्थानापन्न हैं ? मातृ-स्थानापन्न ही नहीं, वे तो प्रभुके सब कुछ हैं।

श्रीरामचन्द्रिकामें सुमित्रा अम्बासे लखनलालकी प्रशंसा करते हुए श्रीराघवेन्द्र कहते हैं—

पौरिया कहौं, कि प्रतीहार कहौं, किधौं प्रभु,
पुत्र कहौं, मित्र, किधौं मंत्री सुखदानिये।
सुभट कहौं, कि शिष्य, दास, कहौं किधौं दूत,
केसवदास हाथको हथ्यार उर आनिये॥
नैन कहौं, किधौं तन, मन, किधौं तन त्राण,
बुद्धि कहौं, किधौं बल, विक्रम बखानिये।
देखिबेको एक हैं अनेक भाँति कीन्ही सेवा,
लक्ष्मणके मात कौन कौन गुण गानिये॥

(श्रीरामचन्द्रिका २२। २२)

उपर्युक्त शब्दोंमें श्रीकौशलेन्द्रने अपने हृदयको ही श्रीसुमित्रा अम्बाके सामने प्रत्यक्ष कर दिया। सच बात तो यह है—श्रीराघवेन्द्र-जैसे संकोची स्वामियोंके लिये कोरे आज्ञापालक सेवकोंकी कोई अपेक्षा नहीं। मानसभरमें सर्वत्र उनके संकोची स्वभावका ही उल्लेख है। यहाँपर उनके संकोची स्वभावके दिग्दर्शनका लोभ मैं संवरण नहीं कर पा रहा हूँ।

धनुर्यज्ञके मण्डपमें इच्छा होते हुए भी चुपचाप बैठे रहना और श्रीजनकजीके द्वारा उत्तेजनात्मक भाषण सुनकर

भी शान्त रहना उनके संकोची स्वभावका ही सूचक है। कुछ चौपाइयाँ मानससे प्रभुके संकोची स्वभावसूचक उद्धृत की जा रही हैं—

परम बिनीत सकुचि मुसुकाई । बोले गुरु अनुसासन पाई ॥
सकुचन्ह कहि न सकत गुरु पाहीं । पितु दरसन लालचु मन माहीं ॥
केवट उतरि दंडवत कीन्हा । प्रभुहि सकुच एहि नहिं कछु दीन्हा ॥
रामु सँकोची प्रेमबस भरत सपेम पयोधि ।
बनी बात बेगरन चहति करिअ जतनु छलु सोधि ॥
अस कहि अति सकुचे रघुराऊ । मुनि पुलके लखि सीलु सुभाऊ ॥
गुरु नृप भरत सभा अवलोकी । सकुचि राम फिरि अवनि बिलोकी ॥

उपर्युक्त पङ्क्तियाँ मानसमें प्रभुके संकोची स्वभावका निर्देश करनेके लिये छोटा-सा उदाहरणमात्र है।

इसीलिये समग्र पुरवासियोंने यह निणय किया कि—

सीलु सराहि सभाँ सब सोची ।
कहुँ न राम सम स्वामि सँकोची ॥

संकोची स्वामीको यदि संकोची सेवक मिल जाय तो हो चुकी सेवा। श्रीलक्ष्मणजी तो सेवा-धर्मके आचार्य ही हैं। सच्चे सेवककी भाँति वे आज्ञासे अधिक महत्त्व स्वामीको सुखी देखनेकी चेष्टाको देते हैं और सचमुच आनन्दके लिये नहीं, प्रभुकी सेवाके लिये ही वे वन जानेको अत्यन्त उत्सुक हैं।

इसीसे तो प्रभु स्वयं भी इस विषयमें यही आदर्श मानते हैं। देखिये—

बार बार मुनि अग्या दीन्ही । रघुबर जाइ सयन तब कीन्ही ॥

क्या यहाँ हम यह नहीं कह सकते कि प्रभुने मुनिराज श्रीविश्वामित्रजीके आदेशकी कई बार अवहेलना की। तभी तो उन्हें भी श्रीलक्ष्मणजीसे बार-बार कहना पड़ा—

पुनि पुनि प्रभु कह सोवहु ताता ।

तब—

पौढ़े उर धरि पद जलजाता ॥

अतः सेवा-रहस्यको जाननेवाला ऐसा कभी स्वीकार न करेगा और ध्यान रहे कि 'श्रीलक्ष्मणजी अपने सुखकी दृष्टिसे, अथवा वियोग-भयसे वन जा रहे हों; ऐसी बात नहीं। उस समय तो वे उनके सङ्कटमें हिस्सा बँटानेके लिये जा रहे थे। यह उनके निम्नलिखित वाक्यसे स्पष्ट हो जाता है—

नाथ दास मैं स्वामि तुम्ह तजहु त काह बसाइ ।

यहाँ उनके द्वारा किया गया क्रम-भङ्ग ध्यान देने योग्य है। क्रमकी दृष्टिसे तो यहाँ 'नाथ स्वामि तुम्ह दास मैं' कहना ही उपयुक्त था। पर इसमें उनका एकमात्र लक्ष्य यही था कि सुखके समय भले ही स्वामी आगे रहे पर कष्टके समय तो सेवकको ही आगे रहना चाहिये। स्वयं प्रभु भी सुबन्धुका यही लक्षण मानते हैं।

होहिं कुठायँ सुबंधु सहाए । ओड़िअहिं हाथ असनिहु के घाए ॥

प्रसङ्गमें यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि प्रभुने एक बार भी (प्रबल निषेध-वाक्य) नहीं कहा कि—तुम्हें वन ले जानेमें मुझे कष्ट होगा, न चलो। और यदि लक्ष्मणजीको भी ऐसा लगता कि मेरे वन जानेमें प्रभुको कष्ट होगा, तो वे कदापि वन जानेका आग्रह नहीं करते। श्रीराघवेन्द्रका तो यह विचार था कि तुम्हारे चले जानेसे अयोध्याके लोग अनाथ हो जायँगे। पर श्रीलक्ष्मणजीके जीवनका लक्ष्य 'प्रभुकी चरण-सेवा' जो थी, अयोध्याकी नहीं। और आगे चलकर यही सत्य भी सिद्ध होता है। वनमें श्रीलक्ष्मणजी प्रभुके लिये 'सब कुछ' बन गये। सेवक, सैनिक, सखा, सचिव और सेनापति—सभी ही। उनके आज्ञा-पालनका अर्थ होता प्रभुको कष्ट-सागरमें अकेले छोड़ देना। इसी दृष्टिसे यदि इस प्रसङ्गमें अन्य धर्मोंकी अवहेलना कर देते हैं तो यह उनका दूषण नहीं भूषण है। अनन्यतामें ऐसा होना स्वाभाविक ही है। श्रीगोस्वामीजीने तो 'दोहावली' में एक चातककी अवस्था वर्णन करते हुए लिखा है—

गर्मीके दिन थे। चातक शरीरसे चलते-चलते थक गया था। ग्रीष्मके तापसे वह संतप्त भी था। मार्गमें उसे कुछ वृक्ष दिखायी दिये। उसने सोचा—कुछ क्षण विश्राम कर लूँ; किंतु पता लगानेसे ज्ञात हुआ कि वे वृक्ष स्वाति-जलसे न सींचे जाकर दूसरे ही जलसे सींचे गये हैं। इस बातके ज्ञात होते ही उसने विश्रामका विचार स्थगित कर दिया—

उष्न काल अरु देह खिन मग पंथी तन ऊख ।
चातक बतियाँ ना रुचीं अन जल सींचे रूख ॥
अन जल सींचे रूख की छाया तें बरु घाम ।
तुलसी चातक बहुत हैं यह प्रबीन को काम ॥

ऐसी परिस्थितिमें श्रीरामसे परित्यक्ता अयोध्याकी किंवा पिता-माताकी सेवा करना श्रीलक्ष्मणजीको कैसे स्वीकार होता। उनकी दृष्टिमें प्रभुसे परित्यक्त होना बहुत बड़ा अपराध है। कहा है—

बड़भागी बनु अवध अभागी। जो रघुबंसतिलक तुम्ह त्यागी॥

इसी तरह यदि उनके भाषणसे भगवान् शङ्करके प्रति कभी अवहेलनाका भाव प्रतीत होता है तो उसका कारण केवल 'राम' के प्रति उनकी अनन्य निष्ठा और महान् विश्वास ही मानना चाहिये। वहाँ साम्प्रदायिक राग-द्वेषका तो कोई प्रश्न ही नहीं है। उनका अपने रामके प्रेमी—शिवजीसे कोई विरोध नहीं है, वे तो मेघनाद-पूज्य शङ्करका विरोध करते हैं। यह भी उनकी अनन्यताका ही प्रतिपादक है।

(६)

सहजानुराग

श्रीराघवेन्द्रके प्रति उनका अनुराग भी सहज ही है। उसका गुण अथवा कामनासे कोई सम्बन्ध नहीं है।

श्रीनारदजीने 'भक्तिसूत्र' में प्रेमकी व्याख्या करते हुए उसका स्वरूप भी यही बताया है—

गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्।

इसीलिये प्रारम्भमें ही श्रीगोस्वामीजीने श्रीलक्ष्मणजीके सहजानुरागको सूचित कर दिया है—

बारेहि ते निज हित पति जानी। लछिमन राम चरन रति मानी॥

बाल्यावस्थाके खेलमें भी श्रीलक्ष्मणजी कभी प्रभुके विरुद्ध नहीं खेले। गीतावलीमें कहा है—

राम-लषन इक ओर, भरत-रिपुदवन लाल इक ओर भये।
सरजुतीर सम सुखद भूमि-थल, गनि गनि गोइयाँ बाँटि लये॥

एक क्षणके लिये भी प्रभुका वियोग उन्हें असह्य था। यही कारण है कि जहाँ प्रभु (श्रीरामचन्द्रजी) का नाम लिया जाता है, वहाँ श्रीलक्ष्मणजीका नाम अन्य भाइयोंकी अपेक्षा अधिक निकटस्थ समझकर लिया जाता है। श्रीगोस्वामीजीने रकार-मकारके प्रति अपनी प्रियता प्रकट करनेके लिये—

राम लषन सम प्रिय तुलसी के।

—ही कहना उचित समझा। कुछ लोग मानसमें श्रीलक्ष्मणजीके चरित्रका कुछ संक्षिप्त रूप देख, उनके प्रेम तथा विशेषताओंकी विवेचना विशेष न पाकर यह समझनेकी भूल कर बैठते हैं कि श्रीगोस्वामीजीके हृदयमें श्रीलक्ष्मणजीकी अपेक्षा, श्रीभरतजीके* प्रति अधिक स्नेहका भाव है, पर उपर्युक्त उपमासे ही यह सन्देह निवृत्त हो जाना चाहिये।

श्रीगोस्वामीजीकी नाम-निष्ठा तो प्रसिद्ध ही है। उन्होंने नामको निर्गुण और सगुण दोनों ब्रह्मस्वरूपोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ बतलाया है। उस नामके दोनों वर्णोंके लिये 'राम और (क्रमशः) भरत'के स्थानपर 'राम और लखन' कहकर क्रम-भङ्ग भी किया गया है। श्रीलक्ष्मणजीकी अपेक्षा—अवस्थामें श्रीभरतजी बड़े हैं। श्रीलक्ष्मणजीके चरित्रका विस्तृत दिग्दर्शन कराना, कविको अपेक्षित भी तो नहीं था। मानो इसीलिये उसने उन्हें वन्दना-प्रसङ्गमें ही दण्ड-पताकाकी उपमा देकर दोनों (श्रीराम-लक्ष्मण) में सम्मिलित, पूर्णताका होना सूचित कर दिया। श्रीलक्ष्मणजीका चरित्र स्वतन्त्र है ही नहीं। उस महान् प्रेमीने अपनेको प्रभुमें एकमेक कर दिया था। उनका प्रेम तो उस स्तरपर पहुँच चुका है, जहाँ प्रेमी-प्रेमास्पदका भेद करना भी असम्भव-सा है।

श्रीगोस्वामीजी तो श्रीलक्ष्मण-चरित्र छिपानेका रहस्य एक ही पंक्तिमें व्यक्त कर देते हैं।

धनी धन तुलसीसे निरधनके।

धनको तो सभी छिपाते हैं, फिर उसमें भी निर्धन। 'निर्धन अपनी प्राणोपम पूँजी सबको दिखाता फिरेगा'—इसकी आशा भला कौन विज्ञ कर सकता है।

श्रीराम और लक्ष्मणको अलग देखनेकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। महामुनि विश्वामित्र भी श्रीलक्ष्मणसे संयुक्त ही प्रभुको ही लानेकी बात सोचते हैं—

पहूँ मिस देखौं पद जाई। करि बिनती आनौं दोउ भाई॥

वहाँ पहुँचकर भी जब ये—

अनुज समेत देहु रघुनाथा।

—कहते हैं। तब अनुजत्रयके रहते हुए भी 'अनुज' से केवल उनका (श्रीलक्ष्मणजीका) ही बोध होना अनुजत्वके

---

* श्रीभरतजीका प्रेम तो विधि-हरि-हरके लिये भी अगम्य है। उसकी महिमा कौन कह सकता है। पर उनके अनन्य प्रेमकी पद्धति दूसरी है। वे धर्मधुरीण हैं, प्रभुकी आज्ञाके पालक हैं और समाजके सामने परम आदर्श हैं। श्रीलक्ष्मणजीका अनन्य प्रेम दूसरे प्रकारका है। इनमें छोटे-बड़ेकी कल्पना करना तो अपराध है। वे उनसे बढ़कर हैं और वे उनसे। श्रीभरतजीके परम पुनीत प्रेमपर किसी दूसरे लेखमें लिखनेका विचार है।

सम्पूर्ण अधिकारोंपर उनके ही एकमात्र अधिकारका सूचक है। आज भी गृह-गृह और जन-जनमें श्रीराम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुहन कहनेकी ही परिपाटी प्रचलित है। न जाने कितने-एक 'ग्राम्य गीतों' में उन्हें इसी (संयुक्त) रूपमें याद किया गया है। उनके चरित्रका कोई विस्तृत प्रचारक न होनेपर भी अनजानमें ही वे प्रत्येक 'भावुकहृदय' के सहज-सङ्गीत बन चुके हैं। वे ऐसी कविता हैं जिसे छन्द-अलङ्कारोंसे सजाया नहीं गया है, पर मानव-हृदयके अन्तरतम प्रदेशसे अपने-आप फूटकर निकल पड़ी है। श्रीलक्ष्मणजीका प्रभुके प्रति अनुराग इतना पवित्र और सहज है कि उसे कोई भी परिस्थिति और कारण बदल नहीं सकता और न तो बदल ही सका। पवित्र हृदयवालोंको तो इस 'सहजानुराग' का अनुभव युगल-मूर्तिके दर्शनसे ही हो जाता था। इसीलिये तो योगिराज जनकने दर्शन करते ही इस 'सत्य' को समझ लिया। और उसे श्रीविश्वामित्रजीसे व्यक्त भी कर दिया। वे बोल उठे—

× × × ×

सुनहु नाथ कह मुदित बिदेहू। ब्रह्म जीव इव सहज सनेहू॥

यद्यपि वे न तो इन दोनों भाइयोंका व्यवहार ही जानते हैं और न पूर्व-परिचय ही। फिर भी उन दोनोंका प्रेम इनके हृदयको हठात् आकर्षण कर रहा है। क्यों और कैसेका उत्तर देनेमें वे असमर्थ हैं। इन दोनोंके अनिर्वचनीय प्रेमका उन्हें अनुभव तो अवश्य हो रहा है। पर महान् वक्ता जनक उसे व्यक्त करनेमें अपनेको असमर्थ पाते हैं। अपने उस भावको वे इन शब्दोंमें व्यक्त करते हैं—

सुंदर स्याम गौर दोउ भ्राता। आनँदहू के आनँद दाता॥
इन्ह कै प्रीति परसपर पावनि। कहि न जाइ मन भाव सुहावनि॥

यही कारण है कि उनके मनमें एक प्रश्न उठता है कि क्या दो व्यक्तियोंमें ऐसा प्रेम कभी सम्भव है? मन कहता नहीं, बुद्धि कहती नहीं, तब वे पुनः विचार करते हैं और उन्हें लगता है कि वे दो व्यक्ति नहीं, अपि तु ब्रह्म ही दो मार्गोंमें व्यक्त होकर सम्मुख दृष्टिगोचर हो रहा है, और अपने इस निर्णयका वे विश्वामित्रजीसे भी समर्थन चाहते हैं—

कहहु नाथ सुंदर दोउ बालक। मुनिकुल तिलक कि नृपकुल पालक॥
ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभय बेष धरि की सोइ आवा॥

श्रीजनकजीमें 'अनुरागका उदय' एक अद्भुत घटना थी; क्योंकि वे स्वभावसे ही वैराग्यवान् और ब्रह्मनिष्ठ हैं। निश्चितरूपसे उनके इन दोनों गुणोंको श्रीलक्ष्मण और प्रभु बरबस छीन लेते हैं। प्रभुके सौन्दर्यने उनकी ब्रह्मनिष्ठाको और परम अनुरागी श्रीलक्ष्मणजीने उनके वैराग्यको हठात् छीन लिया। यही कारण है कि अपने वार्तालापमें प्रभुके सौन्दर्यकी अपेक्षा दोनोंके अनुरागका ही विशेष वर्णन किया। श्रीजनक-जैसे ज्ञानीको अनुरागके रंगमें रँगकर परम प्रेमी बना देना श्रीलषणलालजीको छोड़ और किसके लिये सम्भव था? श्रीजनकजीकी कही हुई बातोंको ध्यानपूर्वक पढ़ जानेसे यह स्पष्टरूपसे विदित हो जाता है।

(७)

अदोष-दर्शन

पुष्पवाटिकामें प्रभु श्रीरामचन्द्रजी श्रीलक्ष्मणजीके साथ पुष्प लेने आते हैं। उसके कुछ ही क्षणों पश्चात् श्रीकिशोरीजीका भी आगमन होता है। एक दूसरेको देखकर पूर्वानुरागका उदय हो जाता है। प्रभु श्रीराघवेन्द्र श्रीकिशोरीजीका सौन्दर्य एकटक निहारते रह जाते हैं। प्रभुका गम्भीर समुद्रकी तरह शान्त हृदय श्रीकिशोरीजीका चन्द्र-मुख देखकर तरङ्गायित हो उठा। प्रभु श्रीरामभद्र इस अपनी नवीन दशाको श्रीलक्ष्मणजीसे छपाना नहीं चाहते; क्योंकि लषणलालका चित्त प्रभुको ज्ञात है। प्रभु इन शब्दोंमें अपने हृदयके सारे भाव पवित्र मनसे व्यक्त कर देते हैं—

सिय सोभा हियँ बरनि प्रभु आपनि दसा बिचारि।
बोले सुचि मन अनुज सन बचन समय अनुहारि॥
तात जनकतनया यह सोई। धनुषजग्य जेहि कारन होई॥
पूजन गौरि सखीं लै आईं। करत प्रकासु फिरइ फुलवाईं॥
जासु बिलोकि अलौकिक सोभा। सहज पुनीत मोर मनु छोभा॥
सो सबु कारन जान बिधाता। फरकहिं सुभद अंग सुनु भ्राता॥

यहाँ 'सुचि मन' वाक्य बहुत ध्यान देने योग्य है। इन सब घटनाओंका प्रभाव प्रभुके मनपर तो अवश्य पड़ा। पर श्रीलक्ष्मणजी पूर्ण निर्विकार शान्त बने रहे। यही इस वाक्यसे सङ्केत किया गया है। प्रभुके मनकी इस क्षुब्धतासे कणभर भी दोष-दृष्टि श्रीलक्ष्मणजीकी नहीं होती है। अपितु इसके बदले उनके मनमें यह दृढ़ निश्चय हो जाता है कि राघवेन्द्रके मनका क्षोभ ही इस बातका सूचक है कि श्रीकिशोरीजीका विवाह प्रभुसे ही होगा। इतना ही नहीं, उस दिन प्रभुसे एक धर्म-व्यतिक्रम और हो जाता है। श्रीविश्वामित्रजीकी आज्ञा लेकर

प्रभु सन्ध्या करने गये । पर उदित चन्द्रमाको देख उन्हें श्रीसीताजीके मुख-चन्द्रकी स्मृति हो आयी । फिर क्या था, चन्द्रमा और मुखकी तुलनामें ही बहुत रात्रि व्यतीत हो गयी; किंतु इस व्यतिक्रमको देखकर भी उनके मनमें किसी प्रकार-की अश्रद्धाका उदय नहीं हुआ, अपितु प्रातःकाल प्रभुके द्वारा प्रातःकालीन सूर्यका वर्णन सुनकर उन्होंने उसको प्रभु-का प्रभावसूचक ही बताते हुए बड़े सुन्दर शब्दोंमें कोसलेन्द्र-द्वारा ही धनुर्भङ्ग होनेकी बात व्यक्त की ।

विगत निसा रघुनायक जागे । बंधु बिलोकि कहन अस लागे ॥
उयउ अरुन अवलोकहु ताता । पंकज कोक लोक सुखदाता ॥
अरुनोदयँ सकुचे कुमुद उडगन जोति मलीन ।
जिमि तुम्हार आगमन सुनि भए नृपति बलहीन ॥
नृप सब नखत करहिं उजिआरी । टारि न सकहिं चाप तम भारी ॥
कमल कोक मधुकर खग नाना । हरषे सकल निसा अवसाना ॥
ऐसेहिं प्रभु सब भगत तुम्हारे । होइहहिं टूटें धनुष सुखारे ॥
उयउ भानु बिनु श्रम तम नासा । दुरे नखत जग तेजु प्रकासा ॥
रबि निज उदय ब्याज रघुराया । प्रभु प्रतापु सब नृपन्ह दिखाया ॥
तव भुजबल महिमा उदघाटी । प्रगटी धनु बिघटन परिपाटी ॥

ऐसी थी श्रीलक्ष्मणजीकी प्रभुमें अनन्त निष्ठा !

इतना ही नहीं, वनमें प्रभुने एक ऐसी विलक्षण लीला की कि उस प्रसङ्गमें महान्-से-महान् व्यक्ति भी विचलित हो जाता पर श्रीलक्ष्मणजी अडिग रहे । विश्वमें 'नीर-क्षीर-प्रेम' की अत्यधिक प्रशंसा की जाती है । दूध पानीसे इतना अधिक प्रेम करता है कि जलको अपना स्वरूप बना लेता है । जल भी उसका निर्वाह करना जानता है । इसीलिये जब दुग्ध अग्नि-पर औंटाया जाता है तब जल स्वयं अपनेको पहले जलाता है । अपने मित्र जलको जलते देख दुग्ध भी अग्निमें कूदकर (उफान आकर) आत्महत्या कर लेना चाहता है । तब उसे शान्त करनेके लिये जलका ही छींटा देना पड़ता है । अपने मित्र (जल) को पुनः लौटा देख दुग्ध शान्त हो जाता है । पर इतना विलक्षण प्रेम होनेपर भी खटाई पड़ते ही दोनों अलग हो जाते हैं । इसी तरहसे महानुभावोंका कथन है कि गाढ़ प्रेममें भी कपट-खटाई पड़ते ही वह रस-हीन हो जाता है—

जलु पय सरिस बिकाइ देखहु प्रीति की रीति भलि ।
बिलग होइ रसु जाइ कपट खटाई परत पुनि ॥

किंतु प्रभुके प्रति श्रीलक्ष्मणजीका प्रेम तो इतना प्रगाढ़ है कि ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो जानेपर भी उस प्रेममें तनिक भी अन्तर आनेकी कल्पना भी नहीं की जा सकती ।

एक दिन जब श्रीलक्ष्मणजी कन्द-मूल-फल लेनेको वनमें गये तब उनके पीछेसे लीलाविहारी प्रभुने श्रीकिशोरीजीसे मिल-कर भूभार-हरणकी एक योजना बनायी । श्रीकिशोरीजी अग्निमें अन्तर्हित हो गयीं और उनकी जगह मायामूर्ति प्रकट हो गयी । पर श्रीलक्ष्मणजीसे यह बात छिपायी गयी । इसके पश्चात् रावण माया-मृग लेकर आता है । अपनी योजनाके अनुसार निश्चय ही प्रभुको मायासीताका हरण अभीष्ट है । फिर भी वे माया-मृगके पीछे जाते समय श्रीलषणलालको रक्षा करने-का आदेश देते हैं—

प्रभु लछिमनहि कहा समुझाई । फिरत बिपिन निसिचर बहु भाई ॥
सीता केरि करेहु रखवारी । बुधि बिबेक बल समय बिचारी ॥

—और जब श्रीलक्ष्मणजी दृढ़तापूर्वक आज्ञाका पालन कर रहे हैं, तभी सुनायी पड़ता है उन्हें प्रभुके स्वरोंमें मारीचका आर्तनाद । फिर भी लक्ष्मणजी उनकी आज्ञापर अडिग ही रहते हैं । श्रीकिशोरीजीके कहनेपर भी वे हँसकर टाल देते हैं, तब प्रेरणा करते हैं प्रभु श्रीकिशोरीजीके मन-में कटुभाषणकी और श्रीकिशोरीजी द्वारा कटुवाक्यप्रहार होता है श्रीलक्ष्मणजीपर । निश्चितरूपसे श्रीलक्ष्मणजी विचलित न हुए होते पर मायानाथको तो अपना कार्य बनाना था । वे प्रेरणा कर देते हैं श्रीलक्ष्मणजीके मनमें आनेकी । पर धन्य हैं श्रीलक्ष्मणजी, जिन्होंने श्रीकिशोरीजीके कटु-वाक्यप्रहारके उत्तरमें एक शब्द भी न कहा । अपितु उनकी रक्षाका भार देवताओंपर डालकर रक्षाकी व्यवस्था कर प्रभुकी ओर चल पड़े । यहाँ 'कवि' ने प्रभुके लिये एक ऐसी उपमा दी है जैसी उपमा उसने कहीं न दी ।

बन दिसि देव सौंपि सब काहू । चले जहाँ रावन ससि राहू ॥

प्रभुको 'राहु' की उपमा देना भक्त कविके लिये आश्चर्य-जनक ही है । यदि उसे यही दिखाना अभीष्ट था कि प्रभु रावणका नाश करनेवाले हैं तो वह अन्य उपमाएँ दे सकता था । पर उन सबको छोड़ यह उपमा देना एक विशेष अभिप्राय रखता है । रावण श्रीसीताजीको हरण करने आ रहा है—और चन्द्रमा है गुरु-तियगामी । राहु-उपमाभूषित प्रभुमें भी एक बात ऐसी है, जो भक्तकी दृष्टिमें अछूती न रही । वह है—श्रीलक्ष्मणके प्रति प्रभुका दुराव । राहुका दुराव तो प्रसिद्ध ही है ।

आगे चलकर जब श्रीलक्ष्मणजी प्रभुके निकट पहुँचते हैं, तब प्रभुका श्रीलक्ष्मणजीसे यह कहना कि 'तुम मेरी आज्ञाके विरुद्ध श्रीकिशोरीजीको अकेली छोड़कर चले आये—

जनकसुता परिहरिहु अकेली । आयहु तात बचन मम पेली ॥

—किस सहृदय पुरुषको व्यथित न कर देगा । एक ऐसे भाईके प्रति, जिसने उनके लिये 'सर्वस्व-त्याग' कर दिया । उससे दुराव, फिर अपनी इच्छाके विरुद्ध आज्ञा, आज्ञा-पालनमें भी स्वयं प्रेरणा करके उससे विरत करना एवं फिर उलाहना देना कि—तुम मेरी आज्ञाका उल्लङ्घन करके आ गये [इससे यद्यपि भक्तवत्सल प्रभुने श्रीलक्ष्मणजीकी दृढ़ निष्ठाकी महिमा ही बढ़ायी है] । पर इन घटनाओंसे भी प्रभुके प्रति श्रीलक्ष्मणजीके अगाध स्नेहमें कोई अन्तर नहीं आया । आता भी कैसे प्रेम-पयोधिकी महिमा जो घट जाती । यही तो उस चातक-प्रेमकी विशेषता है ।

चढ़त न चातक चित कबहुँ प्रिय पयोदके दोष ।
तुलसी प्रेम पयोधि की ताते नाप न जोख ॥

श्रीराम और श्रीलक्ष्मणकी एकाकारताको दृष्टिमें रखकर ही कविने दूध और पानीकी उपमा देनेका विचार किया । फिर ध्यान हो आया कि किसे दूध कहा जाय और किसे पानी । दूध-पानीका प्रेम कपट-खटाई पड़नेसे नष्ट भी हो जाता है । हंस भी उसे विलग कर सकता ही है । पर श्रीलक्ष्मणजीके प्रेमको कोई भी घटना नष्ट नहीं कर सकती तब बाध्य होकर कविको कहना पड़ा कि राम-लक्ष्मणके प्रेमकी उपमा दूध-पानीसे क्यों दी जाय—

उपमा राम-लखनकी प्रीतिकी क्यों दीजे छीर-नीर ।
(गीतावली)

कामके पत्र

(१)

अपनी स्थितिके अनुसार ही कार्य करना चाहिये

सादर प्रणाम । आपका कृपापत्र मिला था । आप सब समझते हैं, मैं आपको क्या लिख सकता हूँ । मेरी समझसे तो मनुष्यको अपनी स्थिति समझकर उसके अनुसार ही कार्य करना चाहिये । 'उतने पैर पसारिये जितनी लाँबी सोड़' तभी कार्य सात्त्विक और परिणाममें सुख तथा शुभ प्रदान करनेवाला होता है और तभी उसका बहुत दिनोंतक निर्वाह भी हो सकता है । आवेशमें आकर ऐसा कार्य नहीं करना चाहिये, जिसको आगे चलकर छोड़ना पड़े । जो लोग बिना विचारे किसी सदुद्देश्यसे भी अपनी शक्तिके बाहर काम कर बैठते हैं, उनकी आगे चलकर अपने उद्देश्यके प्रति ही उपेक्षा, उदासीनता, अवज्ञा और शिथिलता हो जाती है । जैसे किसीकी आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी नहीं हो और वह जोशमें बड़ा ऋण लेकर भगवान्का मन्दिर बनवा दे । मन्दिर-निर्माण बहुत अच्छी बात है; परंतु ऋण भी बड़ा पाप है । ऋण नहीं चुकाया जायगा और महाजनका कड़ा तकाजा शुरू होगा तब मानसिक शान्तिको बनाये रखना असम्भव-सा हो जायगा । ऋण लेकर मन्दिर न बनाया जाता तो यह अशान्ति नहीं होती । जब चित्तमें अशान्ति होगी, दुःख होगा तब अपने कार्यपर पश्चात्ताप भी होगा । और मन्दिर-निर्माणके मूलमें भगवान्के प्रति जो श्रद्धा थी, वही शिथिल हो जायगी । फिर भगवान्में भी उपेक्षा, उदासीनता एवं अनादरकी भावना आ जायगी । पर इसका यह अर्थ नहीं है कि प्रचुर अर्थ होनेपर भी भगवत्सेवामें या सत्कार्यमें उसका व्यय नहीं किया जाय । वह तो कृपणता और वित्त-शाठ्य है । अपने पास कोई वस्तु हो, अपने शरीर और मनमें शक्ति हो एवं उचित अवसरपर उनसे काम नहीं लिया जाय, यह भी बहुत बुरी बात है ।

आप यह मत समझें कि मैं आपके उत्साहको तोड़ रहा हूँ और आपकी सत्-प्रवृत्तिमें बाधा देना चाहता हूँ । आपकी सद्भावना और उत्साह बहुत सराहनीय है; परंतु आपने अपनी जो स्थिति बतलायी है और उसपर मेरी सम्मति पूछी है, इसलिये कर्तव्यवश आपको

यह लिखनेके लिये बाध्य होना पड़ रहा है कि आप अपने उत्साहके अनुसार कार्य तो अवश्य कीजिये—पर कीजिये उसी सीमातक, जहाँतक आपकी शक्ति है। आपने भविष्यकी जिस कल्पनापर इतना बड़ा कार्य करनेका विचार किया है, वह उचित नहीं मालूम होता। सोचिये, यदि आपकी भविष्यकी कल्पना सिद्ध न हुई तो आपको कितना कष्ट होगा और साथ ही आपके बाल-बच्चोंकी भी क्या दशा होगी। आपके ऊपर बच्चोंका दायित्व तो है ही। जबतक आपको अपने शरीरका ज्ञान है, तबतक इस दायित्वसे आप मुक्त नहीं हो सकते। यह भी आपका धर्म है। आप बच्चोंमें, घरमें आसक्त न हों, यह ठीक है; परंतु उनकी देख-रेख न करें, यह अनुचित है और किसी कल्पनापर उनके भविष्यको अन्धकारमय बना देना नितान्त अनुचित है। यह सत्य है कि सबके रक्षणावेक्षणका भार श्रीभगवान्‌पर है। आजकी बनायी हुई व्यवस्था कल नष्ट हो सकती है और इससे बहुत अच्छी नयी व्यवस्था भी हो सकती है; परंतु मनुष्यका कर्तव्य तो यही है कि वह अपनी वर्तमान स्थितिके अनुसार सोचे और तदनुसार ही व्यवस्था करे। फिर होगा तो वही जो होना है और वही ठीक होगा। पर इस विचारको लेकर अहंता-ममतासे युक्त मनुष्य अपनेको कर्तव्यके दायित्वसे मुक्त नहीं मान सकता।

आपके दूसरे प्रश्नका उत्तर यह है कि मेरी समझसे इस समय संसार उन्नतिकी या विकासकी ओर नहीं, परंतु अवनति और विनाशकी ओर ही जा रहा है। हमलोगोंकी मानसिक स्थिति ही इसका प्रमाण है। जिस कालमें मनुष्यका मन त्याग एवं प्रेमसे पूर्ण, पवित्र, भगवत्-सम्बन्धयुक्त सात्त्विक भावोंसे भरा होता है, वही काल उसकी उन्नतिका होता है; क्योंकि मानसिक भावोंके अनुसार ही कार्य होते हैं और उन कार्योंका अच्छा-बुरा परिणाम ही हमारी उन्नति-अवनतिका स्वरूप होता है। जब हमारे मनमें काम, क्रोध, लोभ, असत्य, वैर, हिंसा, द्वेष, दम्भ, द्रोह, विषाद, सन्ताप, ईर्ष्या, मत्सर, अभिमान, दर्प, ममत्व, अहंकार आदि भरे हैं और दिनोंदिन बढ़ रहे हैं, तब हमारे द्वारा सत्कार्योंका होना और उनके फलस्वरूप अभ्युदय और विकासकी प्राप्ति होना कैसे सम्भव है? जैसा आज हमारा मन है, वैसा ही जगत् हमारे सामने आनेवाला है। आजके हमारे मनमें विध्वंस, विनाश और अवनतिके विचार ही बढ़ रहे हैं, और सबसे बढ़कर बात तो यह है कि अपनेको प्रगतिशील माननेवालोंको इन विनाशी विचारोंमें ही प्रगति और विकास दीख रहा है। भगवान्‌ने श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है—

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥
(१८। ३२)

'बुद्धि जब तमोगुणसे ढक जाती है, तब वह अधर्मको धर्म मानती है, उसको फिर सभी अर्थोंमें विपरीत मान्यता हो जाती है।' फिर हानिमें लाभ, अवनतिमें उन्नति; विनाशमें विकास, पतनमें उत्थान और लघुत्वमें महत्त्व दीखने लगता है। यह तामसी बुद्धिका स्वरूप है और तमोगुणका फल है अधःपात—(अधो गच्छन्ति तामसाः) तामस प्राणी अधोगतिको प्राप्त होते हैं। (गीता १४। १८)।

हाँ, इस दुःसमयमें भी भगवान्‌का आश्रय लेकर उनका भजन करनेवाले पुरुष न तो दैवीगुणोंसे वञ्चित होंगे और न उनका अधःपात ही होगा, चाहे संसारमें उनकी बड़ी अवज्ञा ही हो जाय। अतएव मेरी तो प्रार्थना है कि हम सबको भगवद्भजनमें संलग्न होना चाहिये।

मेरी धृष्टताके लिये क्षमा करेंगे।

(२)

ईश्वरकी आज्ञाके बिना पत्ता भी नहीं हिलता

सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। धन्यवाद।

आपका प्रश्न है कि जब ईश्वरकी आज्ञाके बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता, तब पाप-पुण्यके लिये स्थान क्यों ?

प्रश्न विचारणीय है। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि विश्व-ब्रह्माण्डमें जो कुछ हो रहा है, उसमें ईश्वरकी ही प्रेरणा है—

भीषास्माद्वातः पवते। भीषोदेति सूर्यः। भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च। मृत्युर्धावति पञ्चमः।

(तैत्तिरीय० २।८।१)

'परमात्माके भयसे ही पवन चलता है, सूर्य उगता है। अग्नि, इन्द्र और पाँचवाँ मृत्यु—सब अपना-अपना कार्य करते हैं।' इन श्रुतियोंसे यही बात सिद्ध होती है। तब फिर पाप-पुण्यमें भी क्या ईश्वरका ही हाथ समझा जाय ? यदि हाँ, तो फिर जीवोंको पापका दण्ड और पुण्यका पुरस्कार क्यों मिलना चाहिये ?

इस विषयपर गहराईसे विचार करनेकी आवश्यकता है। श्रुति धर्म एवं सत्यके आचरणका आदेश देती है 'सत्यं वद, धर्मं चर' इत्यादि। हिंसा आदि पापोंका निषेध करती है—'मा हिंस्यात् सर्वाभूतानि' इत्यादि। क्या करना चाहिये और क्या नहीं, इस विषयमें गीता वेदादि शास्त्रोंको ही प्रमाण मानती है—

'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।'

वेदादि शास्त्र ईश्वरकी ही आज्ञा हैं—'श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे।' अतः ईश्वरका यही आदेश जान पड़ता है कि मनुष्य शुभ कर्म करे और पापकर्मोंसे दूर रहे।' इतना ही नहीं, श्रुतियोंमें पापके लिये दण्डकी स्पष्ट घोषणा है—

'अथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन्……।'

अर्थात् 'जिसका आचरण मलिन है—जो पाप करनेवाले हैं, वे निश्चय ही पापयोनियोंमें पड़ेंगे।' इससे सिद्ध होता है कि पाप-पुण्यका उत्तरदायित्व उसके कर्तापर ही है। धर्मके उल्लङ्घनमें और पापके आचरणमें ईश्वरकी कोई प्रेरणा नहीं है। अपितु ईश्वरीय विधानमें इसका स्पष्ट निषेध ही पाया जाता है। दण्डविधान तभी सम्भव और न्यायसङ्गत है, जब मनुष्य पाप या अपराध करनेमें पूर्ण स्वतन्त्र हो। इससे स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य शुभाशुभ कर्म करनेमें स्वतन्त्र है।

जब ऐसी बात है, तब तो 'ईश्वरकी इच्छाके बिना एक पत्ता भी नहीं हिलता' इस सिद्धान्तसे विरोध आता है। नहीं, सूक्ष्म विचारसे इस विरोधके लिये कोई स्थान नहीं है। सामान्यतः हलन-चलन, श्रवण-दर्शन, मनन-चिन्तन आदि जो मन और इन्द्रियोंके तथा जड जगत्के व्यापार हैं, जिन्हें हम केवल 'चेष्टा' कह सकते हैं, वह चेष्टा ईश्वरकी प्रेरणासे ही होती है। जिस शक्तिसे प्रेरित होकर प्रकृति अथवा प्राकृत जगत् कार्यक्षम होता है, वह ईश्वरकी ही शक्ति है, इसीलिये ईश्वरकी प्रेरणासे ही सब कुछ होता है, ऐसा कहा जाता है। केनोपनिषद्में एक इतिहास आता है—किसी समय देवताओंके मनमें यह अभिमान आ गया कि हमने अपने बलसे असुरोंपर विजय प्राप्त की है। उसी समय उनके सामने एक तेजस्वी महाकाय यक्ष प्रकट हुआ, उसका परिचय न पा सकनेपर अग्नि और वायु क्रमशः उसके समीप गये और अपनी शक्तिका बखान करने लगे। यक्षने उनके सामने एक तिनका रख दिया और कहा, 'इसे जला दो या उड़ा दो।' सारी शक्ति लगा देनेपर भी वायुदेवता और अग्निदेवता कृतकार्य नहीं हो सके, अन्तमें भगवती उमाके द्वारा सर्वप्रथम इन्द्रको यह ज्ञान हुआ कि 'वह यक्ष साक्षात् ब्रह्म ही थे और देवताओंने उन परमात्माके ही बलसे असुरोंपर विजय पायी है।' अतः 'ईश्वरीय प्रेरणाके बिना एक पत्ता भी नहीं हिलता।' यह कथन सत्य ही है। ब्रह्मका निरूपण करते हुए श्रुति कहती है कि वह नेत्रका भी नेत्र, कानका भी कान और मनका भी मन है। यह स्वयं नेत्रसे नहीं

देखता, नेत्र ही उससे—उसकी शक्तिसे देखते हैं। इसी प्रकार कान, मन आदि भी उसीकी शक्तिसे कार्यक्षम होते हैं। ईश्वरकी शक्ति और प्रेरणाके बिना कोई कुछ भी नहीं कर सकता। गायत्रीमन्त्रमें उसी प्रेरक शक्तिका चिन्तन किया जाता है। जैसे मशीनको चालू कर देना बिजलीका काम है, उसी प्रकार सम्पूर्ण भौतिक या प्राकृत जगत्को सञ्चालित कर देना ईश्वरका कार्य है; परंतु बिजलीकी शक्तिसे चलनेवाली मशीनका उपयोग करनेवाला मनुष्य ही उसके सदुपयोग या दुरुपयोगके लिये उत्तरदायी होता है, न कि मशीन या बिजली। यदि छपाई ठीक नहीं हुई तो मशीनमैन ही उसका उत्तरदायी होगा। बिजलीको कोई दण्ड नहीं दिया जा सकता, यद्यपि उसके बिना मशीन कुछ भी नहीं कर सकती। इसी प्रकार मनुष्यके मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ अन्तर्यामी प्रभुकी प्रेरणासे ही कार्य करनेमें समर्थ होते हैं; परंतु इनसे शुभ या अशुभ कार्य करानेका उत्तरदायी स्वयं वह मनुष्य ही है, न कि उसके हाथ, पैर या उनमें शक्ति देनेवाला ईश्वर।

गीतामें प्रत्येक शुभाशुभ कर्मके लिये पाँच हेतु माने गये हैं—अधिष्ठान (स्थान), कर्ता, करण, चेष्टा और प्रारब्ध। इनमें स्थान, करण और चेष्टा जड होनेके कारण उत्तरदायी नहीं हैं। प्रारब्ध अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितिकी सृष्टिमात्र करता है। अतः उसपर भी कर्मका उत्तरदायित्व नहीं लादा जा सकता। अब केवल एक कर्ता पुरुष बच रहता है और वही कर्मोंके लिये उत्तरदायी है। इन पाँचों हेतुओंमें ईश्वरका नाम नहीं है। ईश्वरकी प्रेरणासे चेष्टामात्र होती है। जैसे बिजलीके चूल्हेपर भगवान्के भोगके लिये पवित्र हविष्यान्न भी सिद्ध किया जा सकता है और मांस भी पकाया जा सकता है, उसी प्रकार क्रियाशील इन्द्रियादिके व्यापारसे मनुष्य शुभ और अशुभ कर्म करता है। जैसे बिजलीसे जलनेवाले चूल्हेपर हविष्यान्न पकाने या मांस पकानेमें मनुष्य स्वतन्त्र है, उसी प्रकार ईश्वरीय प्रेरणासे मन-इन्द्रियोंके कार्यक्षम होनेपर भी मनुष्य कर्म करनेमें, न करनेमें या विपरीत करनेमें सर्वथा स्वतन्त्र है। इसीसे मनुष्यको कर्मयोनि कहा गया है और इसीलिये वह उत्तरदायी भी है।

अब यह प्रश्न होता है कि मनुष्य इच्छा न रहनेपर भी पापको बुरा समझनेपर भी पापमें कैसे प्रवृत्त होता है। अर्जुनके इसी प्रश्नका उत्तर भगवान्ने गीताके तीसरे अध्यायमें दिया है। वहाँ उन्होंने स्पष्ट शब्दोंमें पापकर्ममें काम और क्रोधको ही प्रेरक बतलाया है। ये काम-क्रोध रहते हैं इन्द्रिय, मन और बुद्धिमें। इन सबपर आत्माका स्वामित्व है, अतः वहाँ काम-क्रोधको स्थान देकर पाप करनेका उत्तरदायित्व मनुष्यपर ही है; क्योंकि वह इच्छा करनेपर काम-क्रोधका नाश करके पापकर्मसे बिल्कुल बच सकता है। इसीसे भगवान्ने अन्तिम श्लोकमें कामरूपी शत्रुको मारनेकी आज्ञा दी है।

आशा है उपर्युक्त पंक्तियोंसे उक्त विरोध मिट जाता है। शेष भगवत्कृपा।

(३)

अपनी शक्ति-सामर्थ्यसे सदा सेवा करनी चाहिये

सप्रेम हरिस्मरण! आपका कृपापत्र मिला था। उत्तरमें विलम्ब हो गया, इसके लिये क्षमाप्रार्थी हूँ। आपके प्रश्नके उत्तरमें निवेदन है कि हमलोगोंको जो कुछ भी मिला है, सब वस्तुतः भगवान्की पूजाके लिये ही मिला है—इन्द्रिय-तृप्तिकी इच्छासे भोग करनेके लिये नहीं। जो मनुष्य इस बातको समझकर प्राप्त वस्तुओंको यथायोग्य यथास्थान भगवान्की सेवामें लगाता है और अवशिष्टको प्रसादरूपमें ग्रहण करता है, वह तो मानव-जीवनका कर्तव्य पालन करता है। जो ऐसा न करके अपने भोग-सुखमें ही सब वस्तुओंका उपयोग करता है, वह पापी है और पापका ही सेवन करता है। श्रीभगवान्ने गीतामें कहा है—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥
(३ । १३)

यज्ञ (भगवान्‌की सेवा) से बचे हुए अन्नको खानेवाले—विश्वरूप भगवान्‌की सेवामें लगाकर बचे हुए पदार्थोंको अपने काममें लेनेवाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापोंसे छूट जाते हैं; पर जो पापी मनुष्य केवल अपने शरीर-पोषणके लिये, अपने भोग-सुखके लिये पकाते (कमाते) हैं, वे तो पाप ही खाते हैं।

जिसके पास अन्न, धन, जन, विद्या, बुद्धि, शक्ति-सामर्थ्य जो कुछ भी है, सबको भगवान्‌की सेवामें लगाना चाहिये। जहाँ अन्नका अभाव है, वहाँ भगवान् अन्नके द्वारा पूजा कराना चाहते हैं; जहाँ जलका अभाव है, वहाँ जल; जहाँ रोग फैला है, वहाँ चिकित्सा और औषध; जहाँ वस्त्र नहीं है, वहाँ वस्त्र; जहाँ आश्रय नहीं है, वहाँ आश्रय; जहाँ भय है, वहाँ अभयद शरण; जहाँ अज्ञान है, वहाँ विद्या; जहाँ शक्तिका अभाव है, वहाँ शक्ति; जहाँ मार्गभ्रम है, वहाँ मार्ग-दर्शन; जहाँ दरिद्रता है, वहाँ धन; जहाँ असहाय अवस्था है, वहाँ सहायक और जहाँ प्राणभय है, वहाँ प्राणरक्षा—इस प्रकार भिन्न-भिन्न स्थितियोंमें भगवान् ही भिन्न-भिन्न रूपोंमें प्रकट होकर अपनी सेवा चाहते हैं और चाहते हैं उनसे, जिनके पास सेवाके योग्य पदार्थ या साधन हैं।

समुद्र-मन्थनके समय जब हलाहल विष निकला और उसकी तीव्र ज्वालासे सारा विश्व जलने लगा, तब देवताओंने सबकी रक्षाके लिये भगवान् श्रीशङ्करसे प्रार्थना की। भगवान् शङ्कर ऐसे हैं जो तीव्र-से-तीव्र विषको पीकर भी जगत्‌की रक्षा करनेमें समर्थ हैं। उस समय लोगोंकी दीनताको देखकर भगवान् शङ्करजीने पार्वती-जीसे कहा—

आसां प्राणपरीप्सूनां विधेयमभयं हि मे।
एतावान् हि प्रभोरर्थो यद् दीनपरिपालनम्॥
प्राणैः स्वैः प्राणिनः पान्ति साधवः क्षणभङ्गुरैः।
बद्धवैरेषु भूतेषु मोहितेष्वात्ममायया॥
पुंसः कृपयतो भद्रे सर्वात्मा प्रीयते हरिः।
प्रीते हरौ भगवति प्रीयेऽहं सचराचरः।
तस्मादिदं गरं भुञ्जे प्रजानां स्वस्तिरस्तु मे॥
(श्रीमद्भा० ८ । ७ । ३८—४०)

'हे कल्याणि ! ये बेचारे किसी प्रकार अपने प्राणोंकी रक्षा करना चाहते हैं। इस समय मेरे लिये यही कर्तव्य है कि मैं विषपान करके इन्हें निर्भय कर दूँ। जिनके पास शक्ति-सामर्थ्य है, उनके जीवनकी इसीमें सार्थकता है कि वे दीन-दुखी प्राणियोंकी रक्षा करें। साधु पुरुष अपने क्षणभङ्गुर प्राणोंकी बलि देकर भी दूसरे प्राणियोंके प्राणोंकी रक्षा करते हैं। अपने ही अज्ञानसे मोहित होकर लोग परस्परमें वैरकी गाँठ बाँधे बैठे हैं। ऐसे प्राणियोंपर जो कृपा करता है, सर्वात्मा भगवान् श्रीहरि उसपर प्रसन्न होते हैं और जब भगवान् प्रसन्न हो जाते हैं, तब चराचर जगत्‌के साथ मैं (शङ्कर) भी प्रसन्न हो जाता हूँ। अतएव इस भयानक विषको भक्षण करता हूँ, जिससे मेरी समस्त प्रजाका कल्याण हो।'

भगवान् शिवजीने ऐसा कहा ही नहीं, वे उस भयानक विषको पी गये। पर इससे उनकी कुछ हानि तो हुई ही नहीं, वरं वह विष उनका एक भूषण बन गया। विषकी ज्वालासे उनका कण्ठ नीला हो गया। वर्णविरहित गौर शरीरमें नीलकण्ठकी विलक्षण शोभा हो गयी। वस्तुतः यह सत्य भी है, जो दूसरोंके हितके लिये जहरकी घूँट पी जाता है, उसका परिणाममें अहित कभी नहीं होता। असलमें पर-हित ही सच्चा अमृत है और पराया अहित ही भीषण विष है।

अतएव हमारे पास जो कुछ भी शक्ति-सामर्थ्य है, उसके द्वारा, जहाँ जैसी आवश्यकता है—दीन-दुःखित अभावग्रस्त प्राणियोंके रूपमें प्रकट भगवान्‌की सेवा करनी चाहिये। यह शक्तिसामर्थ्य भी भगवान्‌की ही है, और

उन्हींसे हमें मिली है; अतएव यह अभिमान भी नहीं करना चाहिये कि हम किसीको कुछ दे रहे हैं। भगवान्की वस्तु भगवान्के काममें लग रही है और भगवान्ने इसमें हमें निमित्त बननेका गौरव दिया है, यह उनकी परम कृपा है; यों समझना चाहिये ।

(४)

निष्काम कर्मका स्वरूप

सप्रेम हरिस्मरण ! कृपापत्र मिला। उत्तर बहुत विलम्बसे जा रहा है। कृपया क्षमा करेंगे।

मैंने आपकी जीवनी भलीभाँति पढ़ ली है। आपका श्रीभगवान्के चरणोंकी ओर झुकाव हो रहा है, यह बड़े सौभाग्यकी बात है । जिस-किसीकी प्रेरणासे जीव भगवान्की ओर बढ़े, यही जीवनका परम पुरुषार्थ है। 'सभी रूपोंमें एक ही भगवान् हैं'—यह धारणा बहुत उत्तम है। इस दृष्टिसे भगवान् शङ्कर और भगवान् श्रीराममें कोई तात्त्विक भेद नहीं है। फिर भी आपने भगवान् श्रीराघवेन्द्रको इष्टदेव बनाकर जो साधना आरम्भ की है, वह परम मङ्गलमयी है। आप पूर्ण उत्साह, श्रद्धा, विश्वास और लगनके साथ अपना भजन चालू रक्खें, यही तो परम कल्याणका साधन है। अब रही अध्ययन और परीक्षा छोड़नेकी बात, सो मेरी समझसे किसीको भी अपने न्यायोचित कर्तव्यका त्याग करनेकी आवश्यकता नहीं है। फिर आप तो कर्मयोगी बनना चाहते हैं; आप अध्ययन क्यों छोड़ें ? फलकी कामना और आसक्तिको छोड़कर लाभ-हानि, सिद्धि-असिद्धि, अनुकूलता-प्रतिकूलता तथा जय-पराजय आदिमें समान भाव रखते हुए भगवत्प्रीतिके लिये अध्ययनादि सत्कर्म करते रहना ही वास्तविक कर्मयोग है। विहित कर्मसे भागना तो इस कर्मयोगमें निषिद्ध है। इस कर्मयोगसे भगवान्की पूजा होती है और उसका फल होता है जीवनकी सफलता—भगवान्की प्राप्ति । 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः'—जीवनके चरम लक्ष्य—भगवान्को पा लेना ही परम सिद्धि है। और भगवान्की आज्ञा समझकर उनकी प्रसन्नताके लिये ही शुभ कर्म करना कर्मके द्वारा भगवान्का पूजन करना है। इस प्रकार विचार करके आप अपना अध्ययन पूर्ण करें।

आपमें 'धन आदिकी कामना नहीं है' यदि ऐसा है तो यह और भी उत्तम है और ऊँचे उठानेवाली बात है। ऐसी दशामें आप आयुर्वेदके ज्ञाता होनेपर जनतारूप भगवान्की विशेष सेवा कर सकेंगे। जबतक शरीर है, तबतक इसको भोजन-वस्त्र देना ही है, स्त्री और बच्चे तथा परिवारके अन्य लोग भी इसलिये आदरणीय हैं कि उनमें भी आपके इष्टदेव श्रीराम व्यापक हैं, अतः उन सबको अपने पिता-पत्नी मानकर नहीं, पिता-पत्नी आदिके वेषमें भगवान् समझकर उनका आदर करना तथा यथायोग्य भरण-पोषणके द्वारा उनकी सेवा करना है। इसके लिये यदि न्यायतः आप कुछ उपार्जन करें तो यह दोषकी बात नहीं है। भगवद्-बुद्धिसे, भगवान्की सेवाका भाव रखनेसे यह चिकित्सा-रूपी कर्म ही आपके लिये भजन बन जायगा। पत्नीको आपने देवताओंकी साक्षितामें ग्रहण किया है; अतः आपका और उसका यह सम्बन्ध आजीवन रहेगा। दाम्पत्य-सम्बन्ध हिंदू-धर्ममें बड़ा पवित्र माना गया है। इसका प्रभाव जन्मान्तरमें भी पड़ता है। आप दोनों परस्परकी सम्मतिसे संयमका जीवन बिता सकते हैं। आपकी पत्नी भी भगवान्की ओर बढ़ें, घर-परिवारके अन्य लोग भी भगवान्में लगें, अपने सद्व्यवहारके द्वारा ऐसा प्रयत्न करते हुए आपको घरपर ही रहना चाहिये। यही सच्ची आत्मीयता है—

> तुलसी सो सब भाँति परम हित पूज्य प्रानतें प्यारो।
> जासों होय सनेह रामपद एतो मतो हमारो॥

यही घरवालोंके प्रति आपका कर्तव्य है।

घर छोड़कर जानेमें और भी अनेकों बाधाएँ हैं, जिनकी अभी आपको पूरी कल्पना भी नहीं है। मन ठीक हो तो घरपर भी भजन हो सकता है। मन वशमें न होनेपर जंगलमें भी अमङ्गल ही होगा। अतः वहीं

करना चाहिये, जो निरापद हो और भगवद्भजनमें सहायक हो ।

मेरी स्पष्ट सम्मति है कि आप घरमें रहकर अपने भजनको चालू रखते हुए सत्संग और स्वाध्याय भी करते रहें । अध्ययनको पूरा करके उसके द्वारा जनता-रूप भगवान्की सेवा करें और न्यायवृत्तिसे भगवत्प्रसादरूपमें जो उपार्जन हो, उसके द्वारा अपने कुटुम्बीजनोंका यथाशक्ति पालन करें । यद्यपि सबका पालन करनेवाले श्रीभगवान् ही हैं तथापि मनुष्य भी निमित्त बना करता है । भगवान् ही पिता, माता, भाई, बन्धु, पत्नी, पुत्र, पति आदि रूप धारण करके भक्तसे सेवा लेनेके लिये आते हैं; अतः हमें उन्हींकी ओर दृष्टि रखकर उत्साहपूर्वक उनका आराधन करना चाहिये । दूसरे अपने साथ कैसा बर्ताव करते हैं, इसकी ओर ध्यान न देकर अपने कर्तव्यका पालन करनेकी ओर ही दृष्टि रखनी चाहिये । यह याद रखना चाहिये कि अनन्य भक्त वही है जो सबको भगवान्का रूप समझकर अपनेको सेवक मानता है—

> सो अनन्य जाके असि मति न टरइ हनुमंत ।
> मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत ॥

(५)

रासलीला निर्दोष है

सप्रेम हरिस्मरण ! श्रीमद्भागवतमें रासके पश्चात् राजा परीक्षित्ने जो शङ्का की है, उसको तो आपने ग्रहण कर लिया है; परन्तु समाधानके अंशको भलीभाँति नहीं पढ़ा है । उसमेंसे एक अंशको लेकर आपने असन्तोष प्रकट किया है । मेरा निवेदन है कि आप श्रीमद्भागवतके दशमस्कन्धके अध्याय ३३में ३० से ४० तकके श्लोकोंके भावको भलीभाँति हृदयङ्गम करें ।

भगवान् श्रीकृष्ण सर्वव्यापी परमेश्वर हैं, सबके आत्मा हैं; वे समस्त विश्वब्रह्माण्डोंके समस्त स्त्री-पुरुषोंके भीतर रम रहे हैं । वे ही स्त्री हैं और वे ही पुरुष हैं । वे एक साथ सहस्रों और लाखों रूपोंमें प्रकट होते हैं और अपनी ह्लादिनी शक्तिसे आविर्भूत आत्मस्वरूपा श्रीगोपियोंके साथ ही रास करते हैं । उनका यह दिव्य रास नित्य-निरन्तर चलता रहता है और उसी परम मधुर आनन्द-रस-सागरकी एक क्षुद्रतम बूँदका आभास पाकर जगत्के समस्त प्राणी आनन्दकी अनुभूति करते हैं । भगवान्के लिये न तो कोई अपना है, न पराया; भगवान्से मिलनेका सौभाग्य उसी जीवको प्राप्त होता है, जो अनन्त जन्मोंकी साधनासे भगवत्कृपा-प्रसादका अधिकारी बन चुका है । श्रीगोपाङ्गनाओंने यह अधिकार प्राप्त किया था । उनमें श्रुति, देवी, ऋषि-मुनि आदि सभी सम्मिलित होकर पवित्रतम गोपीभावके दिव्य मधुर रसका समास्वादन कर अपने जन्म और जीवनको धन्य करते थे । क्या संसारके दुष्ट प्राणी या दुराचारी मनुष्य भगवान्की इस परम दिव्य लीलाका अनुकरण कर सकते हैं ? क्या उनमें भी वे सभी अलौकिक बातें संभव हैं, जो साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णमें हैं ? यहाँ मैं श्रीशुकदेवजीके समाधानमेंसे दो-तीन श्लोक उद्धृत करता हूँ—

> गोपीनां तत्पतीनां च सर्वेषामिव देहिनाम् ।
> योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीडनेनेह देहभाक् ॥
> अनुग्रहाय भूतानां मानुषं देहमास्थितः ।
> भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत् ॥
> नासूयन् खलु कृष्णाय मोहितास्तस्य मायया ।
> मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान् स्वान् स्वान् दारान् व्रजौकसः॥
> (श्रीमद्भा० १० । ३३, ३६—३८)

अर्थात् 'गोपियोंके, उनके पतियोंके तथा सम्पूर्ण देहधारियोंके अन्तःकरणमें जो आत्मारूपसे विराजमान हैं, जो सबके साक्षी एवं परमपति हैं, वे ही भगवान् लीलाके लिये यहाँ दिव्य चिन्मय मङ्गल विग्रहरूपमें प्रकट होते हैं । श्रीकृष्ण सम्पूर्ण जीवोंपर कृपा करनेके लिये ही मनुष्य-शरीरका आश्रय लेते हैं और ऐसी लीलाएँ करते हैं, जिनका श्रवण करके जीव भगवत्परायण हो जायँ । व्रजवासी गोपोंने भगवान् श्रीकृष्णमें तनिक भी दोषदृष्टि नहीं की । वे उनकी योगमायासे प्रभावित थे, उन्हें ऐसा प्रतीत होता था कि उनकी पत्नियाँ उन्हींके पास सो रही हैं ।'

इन पङ्क्तियोंमें भगवान्के स्वरूप, उनकी लीलाकी दिव्यता, लीलाके मङ्गलमय उद्देश्य तथा श्रीभगवान्के अचिन्त्य माहात्म्यपर प्रकाश पड़ता है। गोपाङ्गनाओंके स्थूल शरीर पतियोंके पास थे, वे पवित्र रस-भावमय देहसे भगवत्-मिलनका दिव्य आनन्द प्राप्त कर रही थीं। आत्मा और परमात्माका मिलन दिव्य देहसे ही संभव है। वहाँतक स्थूल शरीरकी पहुँच कहाँ? आप श्रीभगवान्के स्वरूपको तथा गोपियोंके तत्त्वको समझें और रासलीलाकी दिव्यतापर दृष्टि रक्खें। आपको पता लगेगा, इसमें लौकिक कामक्रीड़ाकी गन्ध भी नहीं है।

(६)

साधनका फल

सादर हरिस्मरण! पत्र मिला था, उत्तर नहीं लिखा जा सका, क्षमा करें। आप चाहती हैं कि 'मेरा मन भगवान्के श्रीचरणोंके सिवा और कहीं न लगे—पर ऐसा नहीं होता है। आप मनको जितना ही जीतना चाहती हैं, उतना ही वह दूर भागता है।.........' सो आपकी यह चाह बहुत ही सराहनीय है। यह चाह ही बढ़ते-बढ़ते जिस दिन अनन्य 'आवश्यकता' बन जायगी—अर्थात् भगवान्के श्रीचरणोंके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं सुहावेगा, एक क्षणकी भी भगवान्की विस्मृति आपके हृदयमें व्याकुलता उत्पन्न कर देगी, उसी क्षण आप भगवान्के श्रीचरणोंको सदाके लिये प्राप्त करके निहाल हो जायँगी। नाम-जप, प्रार्थना—जो कुछ करती हैं, करती रहें। ऐसा सन्देह न करें कि प्रभु नहीं सुनते हैं या इसका कोई फल नहीं हो रहा है। आपका भगवान्के लिये दिया हुआ एक भी क्षण व्यर्थ नहीं जा रहा है। अभी वह फल प्रकट नहीं हो रहा है। जिस दिन अकस्मात् वह प्रकट होगा, उस दिन आपको बड़ा आश्चर्य होगा और महान् आनन्द भी। अन्धकार प्रातः-कालसे कुछ पूर्वतक रहता है, परंतु सूर्योदय होते ही अन्धकारका एक साथ नाश हो जाता है। एक घड़ी पहलेतक जो अन्धकार दिखायी देता था, ऐसा मालूम होता था मानो यह अन्धकार मिट ही नहीं रहा है, जाने कब मिटेगा, वही इतना मिट जाता है कि सूर्यके सामने कहीं खोजनेपर भी उसका पता नहीं लगता। यह सूर्योदयकी मङ्गल-वेला ज्यों-ज्यों रात बीत रही थी, त्यों-ही-त्यों समीप आ रही थी; परंतु थोड़ी-सी रात रहते उसका पता नहीं लग रहा था। इसी प्रकार भगवान्के श्रीचरणोंको प्राप्त करनेकी इच्छाके साथ जो भगवद्भजन, प्रार्थना, स्तवन, ध्यान आदि किये जाते हैं, उनका प्रत्यक्ष फल न दिखायी देनेपर भी वे भगवान्के समीप ले जा रहे हैं। पता नहीं, आपकी कितनी रात कट चुकी है और अकस्मात् वह मङ्गलमय समय कब होनेवाला है, जब आप भगवच्चरणारविन्दको प्राप्त कर लें। पर विश्वास रखिये, भगवान् सब सुन-देख रहे हैं। आपका काम भी हो रहा है। आप प्रेम तथा विश्वासपूर्वक उत्तरोत्तर भजन बढ़ाती रहें। तनिक भी निराशाको मनमें स्थान न दें।

(७)

अपनी कमजोरी भी भगवान्के अर्पण कर दें

सादर हरिस्मरण। आपका पत्र मिला था। उत्तर देरसे लिखा जा रहा है। कार्याधिक्यसे ऐसा हो जाया करता है। आप अपने कमरेमें भगवान् श्रीकृष्णकी तस्वीर रखकर उनके सामने बैठी रोती हैं। उनके प्रति आपके मनमें मातृभाव उमड़ रहा है। सो बड़ी अच्छी बात है। माता श्रीकौसल्याजी और माता श्रीयशोदाजीके चरित्रोंको पढ़िये। इससे आपको विशेष लाभ होगा। आपका सौभाग्य है जो आपके हृदयमें ऐसे भाव आते हैं। परन्तु आपने जिस एक कमजोरीकी बात लिखी है, उससे पता लगता है कि अभी आपके मनमें छिपे चोरोंका अस्तित्व है। उन चोरोंसे सावधान रहिये एवं अपनी इस कमजोरीको भी भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें अर्पित कर दीजिये। आपका अर्पण ठीक होगा तो आपकी कमजोरीको भी वे ही ले लेंगे।

समयका सदुपयोग

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

मनुष्यको अपना एक क्षण भी व्यर्थ नहीं बिताना चाहिये। आलस्य, प्रमाद, भोग, पाप और अनुचित निद्राको विषके समान समझकर इनका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। मनुष्य-जीवनका अमूल्य समय इन सबमें बितानेके लिये कदापि नहीं है। करनेयोग्य काममें विलम्ब करना 'आलस्य' है; शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मकी अवहेलना तथा मन, वाणी, शरीरसे व्यर्थ चेष्टा करना 'प्रमाद' है; स्वाद-शौकीनी, ऐश-आराम, भोग-विलासिता और विषयोंमें रमण करना 'भोग' है; झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार, हिंसा आदि 'पाप' हैं और छः घंटेसे अधिक शयन करना 'अनुचित निद्रा' है। कल्याणकामी मनुष्यको चाहिये कि वह इनसे बचकर अपने सारे समयको साधनमय बना ले और एक क्षण भी व्यर्थ न बिताकर प्राण-पर्यन्त साधनके लिये ही कटिबद्ध होकर प्रयत्न करे।

बुद्धिमान् मनुष्यको उचित है कि वह अपने अमूल्य समयको सदा कर्ममें लगावे। एक क्षण भी व्यर्थ न खोवे और कर्म भी उच्च-से-उच्च कोटिका करे। जो कर्म शास्त्रविहित और युक्तियुक्त हो, वही कर्तव्य है। गीतामें भगवान्ने कहा है—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥
(६। १७)

'दुःखोंका नाश करनेवाला योग तो यथायोग्य आहार-विहार करनेवालेका, कर्मोंमें यथायोग्य चेष्टा करनेवालेका और यथायोग्य सोने तथा जागनेवालेका ही सिद्ध होता है।'

तात्पर्य यह है कि हमारे पास दिन-रातमें कुल चौबीस घंटे हैं, उनमेंसे छः घंटे तो सोना चाहिये और छः घंटे परमात्मा-की प्राप्तिके लिये साधनरूप योग करना चाहिये; इसके लिये प्रातःकाल तीन घंटे और सायंकाल तीन घंटेका समय निकाल लेना चाहिये। शेष बारह घंटोंमें मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा शास्त्रानुकूल क्रिया करनी चाहिये, जिसमेंसे छः घंटे जीविका-निर्वाहके लिये न्याययुक्त धनोपार्जनके काममें और छः घंटे स्वास्थ्यरक्षाके लिये युक्तियुक्त शौच-स्नान, आहार-विहार, व्यायाम आदिमें लगाने चाहिये; अथवा यदि छः घंटेमें न्याय-युक्त धनोपार्जन करके जीविकाका निर्वाह न हो तो आठ घंटे धनोपार्जनमें लगाकर चार घंटे स्वास्थ्यरक्षा आदिके काममें लगाने चाहिये।

समयका विभाग करके देश, काल, वर्ण, आश्रम, परि-स्थिति और अपनी सुविधाके अनुसार अपना कार्यक्रम बना लेना चाहिये। साधारणतया निम्नलिखित कार्यक्रम बनाया जा सकता है—

रात्रिमें दस बजे शयन करके चार बजे उठ जाना, उठते ही प्रातःस्मरण करते हुए चारसे पाँचतक शौच-स्नान, व्यायाम आदि करना, पाँचसे आठतक सन्ध्या-गायत्री, ध्यान, नाम-जप, पूजा-पाठ और श्रुति, स्मृति, गीता, रामायण, भागवत आदि शास्त्रोंका एवं उनके अर्थका विवेकपूर्वक अनुशीलन करते हुए स्वाध्याय करना, आठसे दसतक स्वास्थ्यरक्षाके साधन और भोजन आदि करना, दससे चारतक धनोपार्जनके लिये न्याययुक्त प्रयत्न करना, चारसे पाँचतक पुनः स्वास्थ्य-रक्षार्थ घूमना-फिरना, व्यायाम और शौच-स्नान आदि करना, पाँचसे आठतक पुनः सन्ध्या, गायत्री, ध्यान, नाम-जप, पूजा-पाठ और श्रुति, स्मृति, गीता, रामायण, भागवत आदि शास्त्रोंका, उनके अर्थका विवेकपूर्वक अनुशीलन करते हुए स्वाध्याय करना एवं आठसे दसतक भोजन तथा वार्ता-लाप, परामर्श और सत्संग आदि करना—इस प्रकार दिन-रातके चौबीस घंटोंको बाँटा जा सकता है। इस कार्यक्रममें अपनी सुविधाके अनुसार हेर-फेर कर सकते हैं; किंतु भगवान्के नाम और स्वरूपकी स्मृति हर समय ही रहनी चाहिये; क्योंकि भगवान्की सहज प्राप्तिके लिये एकमात्र यही परम साधन है। भगवान्ने गीतामें कहा है कि जो पुरुष नित्य-निरन्तर मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥
(८। १४)

यदि कहो कि काम करते हुए भगवान्के नामरूपकी स्मृति सम्भव नहीं तो यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि भगवान्ने कहा है—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥
(गीता ८। ७)

"इसलिये हे अर्जुन ! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर । इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त होकर तू निःसन्देह मुझको ही प्राप्त होगा ।"

जब युद्ध करते हुए भी भगवान्‌की स्मृति रह सकती है तो दूसरे व्यवहार करते समय भगवत्स्मृति रहना कोई असम्भव नहीं । यदि यह बात असम्भव होती तो भगवान् अर्जुनको ऐसा आदेश कभी नहीं देते । यदि कहो कि हमारे तो ऐसा नहीं होता तो इसका कारण है श्रद्धा तथा प्रेमके साथ होनेवाले अभ्यासकी कमी । श्रद्धा-प्रेमकी उत्पत्तिके लिये भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, धाम, गुण और प्रभावके तत्त्व-रहस्यको समझना चाहिये तथा भगवान्‌से स्तुति-प्रार्थना करनी चाहिये । भगवान्‌के नाम-रूपकी स्मृति निरन्तर बनी रहे, इसके लिये विवेक-वैराग्य-पूर्वक सदा-सर्वदा प्रयत्न भी करते रहना चाहिये । सत्पुरुषोंका सङ्ग इसके लिये विशेष लाभकर है । अतः सत्सङ्गके लिये विशेष चेष्टा करनी चाहिये । सत्सङ्ग न मिले तो भगवान्‌के मार्गमें चलनेवाले साधक पुरुषोंका सङ्ग भी सत्सङ्ग ही है और उनके अभावमें सत्-ग्रन्थोंका अनुशीलन भी सत्सङ्ग ही है ।

मनुष्य अपने समयका यदि विवेकपूर्वक सदुपयोग करे तो वह थोड़े ही समयमें अपने आत्माका उद्धार कर सकता है; मनुष्यके लिये कोई भी काम असम्भव नहीं है । संसारमें ऐसा कोई भी पुरुष-प्रयत्नसाध्य कार्य नहीं, जो पुरुषार्थ करनेपर सिद्ध न हो सके । फिर भगवत्कृपाका आश्रय रखनेवाले पुरुषके लिये भगवत्प्राप्तिरूप परम पुरुषार्थके सिद्ध होनेमें तो बात ही क्या है !

भगवान्‌के नाम-रूपकी स्मृति चौबीसों घंटे ही बनी रहे और वह भी महत्त्वपूर्ण हो. इसका ध्यान अवश्य रखना चाहिये । जिह्वाद्वारा नाम-जप करनेकी अपेक्षा श्वासके द्वारा नामजप करना श्रेष्ठ है और मानसिक जप उससे भी उत्तम है । वह भी नामके अर्थरूप भगवत्स्वरूपकी स्मृतिसे युक्त हो तो और भी अधिक दामी (महत्त्वपूर्ण) चीज है और वह फिर श्रद्धापूर्वक निष्काम प्रेमभावसे किया जाय तो उसका तो कहना ही क्या है । सच्चिदानन्दघन परमात्मा सर्वत्र समानभावसे आकाश-की भाँति व्यापक हैं, वे ही निर्गुण-निराकार परमात्मा स्वयं भक्तोंके कल्याणार्थ सगुण-साकार रूपमें प्रकट होते हैं; इसलिये निर्गुण-सगुण, निराकार-साकार—किसी भी स्वरूपका ध्यान किया जाय, सभी कल्याणकारक हैं; किंतु निर्गुण-सगुण, निराकार-साकारके तत्त्व, रहस्य, गुण, प्रभावको समझते हुए स्वरूपका स्मरण किया जाय तो वह सर्वोत्तम है ।

संसारमें अधिकांश मनुष्योंका समय तो प्रायः व्यर्थ जाता है और उनमेंसे कोई यदि अपना श्रेष्ठ ध्येय बनाते भी हैं, तो उसके अनुसार चल नहीं पाते । इसका प्रधान कारण विषयासक्ति, अज्ञता और श्रद्धा-प्रेमकी कमी तो है ही; परंतु साथ ही प्रयत्नकी भी शिथिलता है । इसी कारण वे अपने लक्ष्यतक पहुँचनेमें सफल नहीं होते । अतः लक्ष्यप्राप्तिके लिये हर समय भगवान्‌को स्मरण करते हुए समयका सदुपयोग करना चाहिये, फिर भगवान्‌की कृपासे सहज ही लक्ष्यतक पहुँचा जा सकता है ।

चौबीसों घंटे भगवान्‌की स्मृति किस प्रकार हो, इसके लिये उपर्युक्त छः घंटे साधनकाल, बारह घंटे व्यवहारकाल और छः घंटे शयनकाल—इस प्रकार समयके तीन विभाग करके उसका निम्नलिखित रूपसे सदुपयोग करना चाहिये ।

(१) मनुष्य प्रातःकाल और सायंकाल नियमितरूपसे जो साधन करते हैं, वह साधन इसीलिये उच्चकोटिका नहीं होता कि वे उसे मन लगाकर विवेक और भावपूर्वक नहीं करते । ऊपरसे क्रिया कुछ ही होती है और मन कहीं अन्यत्र रहता है । ऐसा नहीं होना चाहिये । साधनके समय मनका भी उसीमें लगना परमावश्यक है । जैसे—सन्ध्या करनेके समय मन्त्रोंके ऋषि, छन्द, देवता और प्रयोजनका लक्ष्य करते हुए विधि और मन्त्रके अर्थका ध्यान रहना चाहिये । गायत्रीमन्त्र बहुत ही उच्चकोटिकी वस्तु है, उसमें परमात्माकी स्तुति, ध्यान और प्रार्थना है, अतः गायत्री-जपके समय उसके अर्थकी ओर ध्यान रखना चाहिये । यह न हो सके तो गायत्री-जपके समय भगवान्‌का ध्यान तो अवश्य ही होना चाहिये । इसी प्रकार गीता, रामायण, भागवत आदिका पाठ भी अर्थसहित या विवेकपूर्वक अर्थका ख्याल रखते हुए करना चाहिये । भगवान्‌की मूर्ति-पूजा या मानस-पूजा करते समय भगवान्‌के स्वरूप और गुण-प्रभावको स्मरण रखते हुए श्रद्धा-प्रेमके साथ विधिपूर्वक पूजा करनी चाहिये । शास्त्र-ज्ञानकी कमीके कारण विधिमें कहीं कमी भी रह जाय तो कोई हर्ज नहीं, किंतु श्रद्धा-प्रेममें कमी नहीं होनी चाहिये । किसी भी मन्त्र या नामका जप हो, उच्चभाव तथा मनःसंयोगके द्वारा उसे उच्च-से-उच्च कोटिका बना लेना चाहिये । एवं ध्यान करते समय तो संसारको ऐसे भुला देना चाहिये कि जिसमें भगवान्‌के सिवा अपना या संसारका किसीका भी ज्ञान ही न रहे ।

हम प्रातः-सायं जितना समय नित्य-नियमित रूपसे साधनमें बिताते हैं, उसे यदि उपर्युक्त प्रकारसे किया जाय तो

उतने ही समयके साधनसे छः महीनोंमें वह लाभ हो सकता है जो बिना भावके करनेके कारण पचास वर्षोंमें भी नहीं हुआ। वस्तुतः जिस समय हम साधनके लिये बैठते हैं उस समय तो हमारा प्रत्येक क्षण केवल साधनमें ही बीतना चाहिये। हम यदि अपने पारमार्थिक साधनके समयको ही समुचित रूपसे साधनमय नहीं बना लेंगे और शीघ्र सफल बनानेके लिये तत्पर नहीं होंगे तो फिर अन्य समयमें भगवच्चिन्तन करते हुए कार्य करना तो और भी कठिन है। अतएव हमें इसके लिये कटिबद्ध होकर प्रयत्न करना चाहिये। इस बातका पता लगाना चाहिये कि वे कौन-सी अड़चनें हैं जिनके कारण नियमितरूपसे साधन करनेके लिये दिये हुए समयमें भी मन उसमें नहीं लगता और समय यों ही बीत जाता है तथा प्रयत्न करनेपर भी उसमें कोई सुधार नहीं होता। एवं पता लगनेपर उन अड़चनोंको तुरंत दूर करनेका सफल प्रयास करना चाहिये। मनको समझाना चाहिये कि 'तुम ऐसे अपने परम हितके कार्यमें भी साथ नहीं दोगे तो इसका परिणाम तुम्हारे लिये बहुत ही भयानक होगा। हजार काम छोड़कर पहले इस कामको करना चाहिये। यह काम तुम्हारे बिना और किसीसे सम्भव नहीं। इसके सामने दूसरे-दूसरे कामोंमें हानि भी हो तो उसकी परवा नहीं करनी चाहिये; क्योंकि वे तो तुम्हारे न रहनेपर भी हो सकते हैं, उन्हें दूसरे भी कर सकते हैं; किंतु तुम्हारे कल्याणका काम तो दूसरे किसीसे सम्भव नहीं।' इसपर भी यदि दुष्ट मन दूसरे कामकी आवश्यकता बतलावे तो उसे फिर समझाना चाहिये कि इससे बढ़कर और कोई आवश्यक काम है ही नहीं।

(२) आलस्य, प्रमाद, भोग, पाप और अनुचित निद्रामें जीवनके एक क्षणको भी नहीं बिताना चाहिये। सामाजिक, धार्मिक, शरीरनिर्वाहसम्बन्धी एवं स्वास्थ्यरक्षा आदिके जो भी व्यवहार हों, सभी शास्त्रानुकूल और न्याययुक्त ही होने चाहिये। प्रत्येक क्रियामें निष्कामभाव और भगवदर्पण या भगवदर्थबुद्धि रहनी चाहिये। इस प्रकार किये जानेपर मनुष्य समस्त बन्धनोंसे मुक्त होकर परमात्माको प्राप्त हो सकता है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥
(९ । २७-२८)

'हे अर्जुन! तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है और जो तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर। इस प्रकार, जिसमें समस्त कर्म मुझ भगवान्‌के अर्पण होते हैं—ऐसे संन्यासयोगसे युक्त चित्तवाला तू शुभाशुभ फलरूप कर्मबन्धनसे मुक्त हो जायगा और उनसे मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त होगा।'

हमारी सारी क्रियाएँ जब भगवान्‌की प्रेरणा और आज्ञाके अनुसार निरभिमानता और निष्कामभावसे भगवान्‌की स्मृति रहते हुए होने लगें तब समझना चाहिये कि हमारी क्रियाएँ भगवदर्पण हैं। जो क्रियाएँ भगवत्प्राप्त्यर्थ या भगवत्प्रीत्यर्थ अथवा भगवान्‌की आज्ञा-पालनके उद्देश्यसे भगवान्‌को स्मरण रखते हुए निष्कामभावसे की जाती हैं, उन्हें भगवदर्थ कहा जाता है। हमारा सारा समय जब इसी भावमें बीतने लगे तब उसे उच्च-से-उच्च कोटिका समझना चाहिये। मनुष्य चाहे तो प्रयत्न करनेपर भगवत्कृपासे वह व्यवहारके सारे समयको सदा-सर्वदा इसी प्रकार बिता सकता है, फिर दिनके बारह घंटोंको इस प्रकार बितानेमें तो बात ही क्या है! भगवान्‌का आश्रय लेकर उनके नाम-रूपको याद रखते हुए सदा-सर्वदा कर्मोंकी चेष्टा करनेपर मनुष्य भगवान्‌की कृपासे शाश्वत अविनाशी पदको प्राप्त हो जाता है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥
(१८ । ५६)

व्यवहारकालके सुधारके लिये दो बातोंपर विशेष ध्यान रखना चाहिये—

(क) प्रत्येक क्रियामें निष्कामभावसे स्वार्थका त्याग और (ख) भगवान्‌के नाम-रूपकी स्मृति। ये सब काम भी वैराग्य और अभ्याससे ही सिद्ध होते हैं। वैराग्यसे निष्कामभाव और स्वार्थ-त्याग होता है और तीव्र अभ्याससे भगवान्‌के नाम-रूपकी स्मृति रहती है।

अतः हमें अपने उद्देश्यको सिद्ध करनेके लिये भगवान्‌के शरण होकर श्रद्धा-प्रेमपूर्वक साधन करना चाहिये। ऐसा करनेसे परमात्माकी कृपासे हम शीघ्र ही कृतकार्य हो सकते हैं।

(३) साधन तथा व्यवहारकालमें तो कुछ होता भी है; परंतु शयनका समय तो नासमझीके कारण अधिकांशमें सर्वथा व्यर्थ ही जाता है। मनुष्य जिस समय सोने लगता है उस समय उसके चित्तमें जिन सांसारिक संकल्पोंका प्रवाह बहता रहता है, उसे निद्रामें प्रायः वैसे ही स्वप्न आते हैं—

संकल्पोंकी दृढ़ता ही स्वप्नमें सच्ची घटनाके रूपमें प्रतीत होने लगती है और इस प्रकार हमारा रातभरका सारा समय व्यर्थ चला जाता है। इस कालका सुधार भी वैराग्य और अभ्याससे हो सकता है। हमें चाहिये कि सोनेसे पूर्व कम-से-कम पंद्रह मिनट शयनकालके संकल्पोंके सुधारके लिये संसारको नाशवान्, क्षणभङ्गुर, अनित्य और दुःखरूप समझकर उसके संकल्पोंका त्याग करके भगवान्‌के निर्गुण-सगुण, निराकार-साकारमेंसे जिस स्वरूपमें भी अपनी श्रद्धा-रुचि हो, उसी नाम-रूपका या भगवान् श्रीकृष्ण, श्रीराम आदि सगुण-साकार स्वरूपके गुण, प्रभाव, लीला आदिका मनन करते हुए सोवें। विवेक-वैराग्यपूर्वक तत्परतासे तीव्र चेष्टा करनेपर कुछ दिनोंमें यह अभ्यास दृढ़ हो सकता है। दृढ़ अभ्यास हो जानेपर स्वप्नमें भी भगवद्विषयक ही संकल्प होंगे और तदनुसार स्वप्नमें भी भगवन्नाम, लीला, स्वरूप, गुण और प्रभावके दृश्य हमारे सामने आते रहेंगे। यों स्वप्न-जगत् भी साधनमय हो जायगा। अतएव वह समय भी साधनका ही एक अङ्ग बन जायगा।

मनुष्य-जन्मका प्रत्येक क्षण मूल्यवान् है। इस रहस्यको समझनेवाला व्यक्ति एक क्षणको भी व्यर्थ कैसे खो सकता है? परलोक और परमात्मापर विश्वास न होने और भगवत्प्राप्तिका माहात्म्य न जाननेके कारण ही मनुष्य अपने उद्धारकी आवश्यकता ही नहीं समझता। इसी कारण वह संसार-सुखकी अभिलाषामें मानव-जीवनके अमूल्य समयको व्यर्थ खो देता है; परंतु सच्ची बात तो यह है कि संसारका सम्पूर्ण सुख मिलकर भी परमात्माकी प्राप्तिके सुखकी तुलनामें समुद्रमें एक बूँदके तुल्य भी नहीं है। जैसे अनन्त आकाशके किसी एक अंशमें नक्षत्र हैं, उसी प्रकार विज्ञानानन्दघन परमात्माके किसी एक अंशमें यह सारा ब्रह्माण्ड स्थित है। जीवको यदि संसारका सम्पूर्ण सुख भी मिल जाय तो भी वह उस ब्रह्मसुखके अंशका एक आभासमात्र ही है। और वह सुखाभास भी वस्तुतः सच्चिदानन्दमय परमात्माके संयोगसे ही है। अतः मनुष्यको उस अनन्त सुखरूप परमात्माकी प्राप्तिके लिये ही अपना सारा समय लगाना चाहिये। तभी समयका सदुपयोग है और तभी जीवनकी सार्थकता है।

दोष किसका है ?

(लेखक—श्री 'दुर्गेश')

यह इच्छा प्रत्येककी होगी कि मैं सुखी रहूँ; परंतु सुखी कोई नहीं देखा गया; क्योंकि मनुष्यकी इच्छाका स्रोत जो नहीं टूटता और जबतक इच्छा रहेगी तबतक चञ्चलता रहेगी ही। जहाँ चञ्चलता है, वहाँ सुख कहाँ। 'अशान्तस्य कुतः सुखम्'। फिर कहीं इच्छा पूरी हो जाती है तो लोभ होता है और न पूरी होनेपर क्रोध होता है। अशान्ति बढ़ती ही जाती है, इसलिये हमें पहले इच्छाका दमन करना चाहिये; क्योंकि हमारे लिये यह व्यर्थकी वस्तु है। जब कि हमारे पति हमारा पूरा खयाल रखते हैं कि हमें कब किस वस्तुकी आवश्यकता है, और वे स्वयं ही आवश्यक वस्तु हमें प्रदान करते हैं, तब हमारे लिये इस चिन्ता-जालमें फँसे रहनेकी क्या आवश्यकता है। मातृपरायण बालकको ही लीजिये—वह अपनी मातापर निश्चिन्त रहता है। वही वस्त्र पहना देगी, जरूरत होगी तो नहला देगी, आँख आँज देगी। यहाँतक कि यदि अधिक भूख नहीं लगती तो वह दूध पीनेकी भी इच्छा नहीं करता और फिर दुग्धपानमें केवल क्षुधानिवृत्तिका तो प्रश्न है नहीं, उसके साथ तो किसी और तत्त्वका भी सम्मिश्रण है। प्रधान तो स्नेह ही समझिये। अपने स्वामीका कृपा-स्नेह पानेकी इच्छा किसको न होगी? इतना तो इच्छाका अधिकार ही है। या यों कहना चाहिये कि इच्छाका जीवन यहींतक है। कहनेका तात्पर्य यह कि केवल प्रभुके लिये इच्छा हो। प्रभुप्रेमके बिना प्रभुका प्रसाद नहीं मिलेगा। जब प्रभु प्रसन्न होंगे तो फिर वे अपूर्व निधि भी प्रदान करनेमें विलम्ब नहीं करेंगे और यदि हम किसीको प्रसन्न करना चाहते हैं तो अपनेको उसके आदेशपर लगाना चाहिये। कुछ दिन श्रम करनेके पश्चात् जब इधर लगन लग जायगी, तब फिर तो इस मायिक जगत्‌के भड़कीले पथपर आकृष्ट करनेपर भी चित्त इसकी ओर नहीं खिंचेगा।

जन्मसे ही मायिक संसर्ग होनेके कारण हम इसे सत्य-सा ही माने हुए हैं। इसे क्षणभङ्गुर, नाशवान्, मृग-मरीचिका इत्यादि कहते हैं, सुनते हैं, पढ़ते भी हैं,

परंतु हृदयपर यह बात ठहरती नहीं है। क्योंकि हमारा चित्त भ्रममें फँस रहा है। हमारे हृदयकी आँखोंपर माया-मदिराका नशा छाया हुआ है, इसलिये वह वास्तव सत्यको नहीं देखता। जिस समय हमारी ये आँखें उस भ्रमनिवारक जड़ीको देख लेंगी, सत्य हमारे सामने प्रकट हो जायगा और जब हमारे सामने मानसरोवर लहराता होगा तब तो फिर हमें मृगमरीचिकाके पीछे दौड़नेकी आवश्यकता नहीं रहेगी। हाँ तो, वह जड़ी क्या है? वह है प्रभुके समीप ले जानेवाला ज्ञान, जो वेद, पुराण और उपनिषदादिमें वैसे ही भरा पड़ा है, जैसे दूधमें घी। पर उसे हम देख नहीं पाते, अतएव वह हम-जैसे उपायहीनोंके लिये—पंगुके लिये दुर्गम पहाड़ीके सदृश हो रहा है, परंतु प्रभुकी कृपा तो देखिये। उन्होंने स्वयं ही हम साधारण प्राणियोंकी इस असुविधाको दूर करनेके लिये गीता-घृत निकाल-कर अपने सभी जनों (नीच-से-नीच जीव भी प्रभुका प्यारा है) को समानरूपसे बाँट दिया।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥
(गीता ९। ३२)

अब इतने सुलभ होनेपर भी मनुष्य यदि इसका अपने लिये प्रयोग न करे तो दोष किसका है। मा बच्चेके मुखमें स्तन दे देगी, पीना तो बच्चेका काम है। मेरा खयाल है, आज गीता-पाठ करनेवाले तो लाखों-करोड़ों होंगे; परंतु कोई ध्यान भी देता है कि गीताकी आज्ञा क्या है। शायद वे वैसे ही विद्यार्थी हैं जो स्कूल तो रोज जाते हैं, एक दिनका भी नागा नहीं करते, पर ध्यान एक अक्षरकी ओर भी नहीं देते कि वह कैसे बनता है। दें भी कैसे, ध्यान तो खेलमें है, कब छुट्टीकी घंटी हो, कब खेलें। अध्यापक पाठ समझाता है, विद्यार्थीका मस्तिष्क किसीको दाव देने-लेनेमें लगा है।

अब बताइये दोष किसका है?

गोवंशकी रक्षा तथा उन्नति

(लेखक—लाला हरदेवसहायजी)

आजका बढ़ा हुआ व्यापारिक गोवंशका ह्रास तथा विनाश अंग्रेजी राज्यकी देन है। अंग्रेजी राज्यके साथ-साथ गोवध भी जाना चाहिये था। अंग्रेजोंके राज्यकालमें गोवंशकी जो अवनति और दुर्दशा हुई, उसे ठीक करनेके लिये रचनात्मक कार्योंपर ध्यान दिया जाना चाहिये था। जनताने अंग्रेजी राज्यके समाप्त होनेके समय ही देशके नेताओंसे गोवध बंद करनेकी माँग की। लाखों प्रस्ताव, पत्र, तार आदि भेजे। इतना प्रयत्न होनेपर कहीं सरकारने गोवंशकी रक्षा तथा उन्नतिके लिये एक विशेष कमेटी नियत की। कमेटीने गोवध कतई बंद करने, बूढ़ी अपाहिज गायोंके लिये गो-सदन स्थापित करने, वनस्पति घी बंद करने तथा गोवंशके नस्ल-सुधार करनेकी सिफारिश की। पर अबतक इन सिफारिशोंपर कोई यथार्थ कार्य नहीं हुआ। पण्डित ठाकुर-दासजी भार्गवके प्रस्तावपर विधान-एसेम्बलीने धारा ३८ में निम्नलिखित संशोधन सर्वसम्मतिसे स्वीकार कर लिया।

"38A The state shall endeavour to organize agriculture and animal husbandry in modern and scientific lines and shall in particular take steps for preserving and improving the breeds of cattle and prohibit the slaughter of cow and other useful cattles specially milch and draught cattle and their young stock."

'३८ अ. सरकार सामयिक तथा वैज्ञानिक तरीकेपर खेती तथा पशु-संवर्धनको सङ्गठित करेगी और विशेषतया पशुओंकी नस्लोंके सुधार और संरक्षणके कार्यकी ओर ध्यान देगी एवं गायों तथा अन्य उपयोगी पशु—विशेषतया दूध देने और हल चलानेवाले पशुओं तथा उनके छोटे बच्चोंके वधको बंद कर देगी।'

यह संशोधन मौलिक अधिकारोंमें आ जाता तो गोवध या उपयोगी पशुओंके वधको रोकनेके लिये केन्द्रिय या प्रान्तीय सरकारोंको किसी नये कानूनके बनानेकी आवश्यकता न होती। गोवध या उपयोगी पशुओंका वध अपराध माना

जाता। पर निर्देश-सिद्धान्त, जिसकी धारा ३८ में यह संशोधन जोड़ा गया है, उसके अनुसार इसे सम्मुख रखते हुए कानून बनवानेकी कोशिश करनी होगी। इस संशोधनसे गोवध सर्वथा बंद होगा या केवल उपयोगी पशुओंके वधपर पाबंदी लगेगी, यह भी एक विवादास्पद प्रश्न है। मेरी सम्मतिमें इस संशोधनके अनुसार गोवध कतई बंद हो सकेगा तथा भैंस, बकरी आदि भी, जो उपयोगी होंगे, वधसे बचेंगे। संशोधनके इस सन्देहको सरकारद्वारा नियत विशेषज्ञ कमेटीकी कतई गोवध बंद करनेकी सिफारिश दूर कर देगी।

पर अभीतक गोवध बंद करनेका या नस्ल-सुधारका कार्य केवल कागजोंपर है, गोवध बढ़ा नहीं तो कम भी नहीं हुआ। पूर्वी पंजाबमें कत्ल करनेवालोंके चले जानेके कारण गोवध नहीं होता। युक्तप्रान्तमें अधिकांश म्यूनिसिपल बोर्डों तथा कुछ डिस्ट्रिक्ट-बोर्डोंने कत्ल बंद कर दिया। सरकारने भी कोई रुकावट नहीं डाली। इससे कहा जाता है कि वहाँ अस्सी प्रतिशत गोवंशका वध कम हो गया। यह ठीक है कि पूर्वी पंजाबमें कतई तथा यू० पी० में बहुत हदतक गोवध नहीं होता, पर इन दोनों प्रान्तोंसे बड़ी संख्यामें अनुपयोगी ही नहीं, उपयोगी पशु भी अन्य प्रान्तोंमें ले जाये जाकर मारे जाते हैं। युक्तप्रदेशमें तो गाजियाबादके निकट चोरीसे गोवध करनेवालोंका षड्यन्त्र भी पकड़ा गया है। मध्यप्रदेशकी सरकारने अंग्रेजी सरकारकी नकल करते हुए सन् १९४७ में कुछ आयुतकके तथा ग्याभन, दुधार पशुओंके वधपर पाबंदी लगायी है, पर जाँच करनेपर मालूम हुआ है कि इस कानूनपर अमल नहीं होता। कम आयुके तथा उपयोगी पशु भी मारे जाते हैं। बम्बई सरकारने पिछले साल ही उपयोगी गायों, साँड़ों तथा भैंसोंके वधपर पाबंदी लगायी है। (बैल तथा छोटे बच्चोंका इसमें नाम नहीं) पर यह शुद्ध कागजी कार्रवाई है। मैंने स्वयं अपनी आँखोंसे बाँदराके कसाईखानेमें वधके लिये तैयार अच्छे तथा उपयोगी पशु देखे हैं। कलकत्तेमें तो देशकी अच्छी नस्लोंका गोवंश ही नहीं, पाकिस्तानसे लाये गये बैलोंका भी वध होता है। मद्रास, आसाम तथा उड़ीसामें भी, जहाँतक मालूम हुआ है, गोवंशके वधपर कोई अमली रुकावट नहीं है। मद्रासके पशु-महकमेके एक बड़े अधिकारीकी सम्मतिमें तो 'सरकारको स्वयं कसाईखाने जारी करने चाहिये। इस बीसवीं सदीमें गोवध निषेधकी चर्चा करनी मूर्खता है।' इससे सिद्ध है कि पिछले डेढ़ सालमें गोवधकी संख्यामें कोई विशेष कमी नहीं आयी। आज भी अनुपयोगी ही नहीं, सालाना लाखोंकी संख्यामें उपयोगी गाय-बैल मारे जाते हैं।

गोवध-निषेध ही नहीं, जहाँतक नस्लसुधार या उन्नतिका सवाल है, इसके लिये भी न सरकारने ठीक ध्यान दिया, न जनताने परवा की। 'गो-सेवा-सङ्घ' तथा देशके अधिकांश पशुविशेषज्ञोंका मत है कि बाहरसे गाय न लाकर स्थानीय गोवंशको ही उन्नत किया जाय, पर सरकार और लोग अपने इलाकेकी गायोंकी उन्नति न करके अच्छी नस्लकी गायें हर-दूसरे इलाकोंसे लाते हैं, जो जल-वायु अनुकूल न होनेके कारण एक या दो ब्यानतक ही जीवित रहती हैं। इस तरीकेसे गोवंशकी उन्नति नहीं, ह्रास और विनाश हो रहा है। देशकी अच्छी नस्लकी गायें, जो दस-पंद्रह बच्चे देकर नस्लको उन्नत करतीं, एक या दो बच्चे लेकर ही खत्म कर दी जाती हैं। अपनी स्थानीय गायें उपेक्षा और बेपरवाहीके कारण अवनत होती और मरती हैं।

चारे-दानेकी कमी भी गोवंशके ह्रास तथा विनाशका एक बड़ा कारण है। केवल रुपया पैदा करनेवाली फसलें जैसे गन्ना, कपास, चाय, तम्बाकू इत्यादिकी खेती बढ़नेके कारण चारा और अन्न दोनों पैदा करनेवाली फसलोंकी ओर ध्यान कम हो रहा है। सरकार किसानको अन्न तथा चारेकी फसलें बोनेके लिये कोई सहूलियत तथा सहायता नहीं देती। चाय, जूट आदिको प्रोत्साहन दिया जाता है। चारे तथा अन्नकी पैदावारके कम होनेका यही एक बड़ा कारण है।

सरकारद्वारा नियत गो-रक्षा तथा उन्नतिकी विशेषज्ञ कमेटीने नकली घीको गोवंशकी उन्नतिमें बाधक बतलाया। महात्मा गाँधीजीने भी इसकी उपमा जाली सिक्कोंसे दी। अधिकांश पशुविशेषज्ञोंने वनस्पति घीको पशुपालनके लिये हानिकारक बतलाया। इज्जतनगरके अनुभवके आधारपर भारतसरकारके खाद्यविभागकी खाद्य-प्रदर्शिनीमें नकली घीको स्वास्थ्यके लिये खराब बतलनेका प्रदर्शन किया। नकली घी पशुपालन तथा स्वास्थ्यके लिये हानिकारक है, यह सिद्ध होनेपर भी नये-नये कारखाने खुल रहे हैं! शुद्ध घीका मिलना आज भी कठिन हो रहा है। यदि यही दशा तथा गति रही तो शीघ्र ही शुद्ध घीका व्यापार सर्वथा समाप्त हो जायगा। शुद्ध घीको नुकसान पहुँचा तो गाय-भैंस नहीं रक्खी जा सकेंगी। गाय-भैंस न रहीं तो बैल-भैंसे कहाँसे आयेंगे। पशुपालन तथा खेतीकी सारी व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जायगी! आज जो दूध तथा अन्न मिल रहा है, वह भी न मिलेगा!

यह सत्य है कि अभीतक गोवंशकी उन्नति तथा रक्षाकी ओर नहीं, ह्रास तथा विनाशकी ओर ही झुकाव है। पर हमें भगवान्‌पर विश्वास रखकर 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' भगवान्‌के वचनानुसार कर्तव्यकर्म समझते हुए हताश न होकर शक्तिके अनुसार जबतक एक-एक गाय-बैल, बछड़े-बछड़ीका वध बंद न हो, जबतक देशके लोगोंके लिये पर्याप्त दूध तथा घी तथा आवश्यक बैल न हों, प्रयत्न जारी रखना चाहिये। इस प्रयत्नके लिये निम्नलिखित प्रार्थनापर ध्यान दें।

१.आज देशमें जनताकी सरकार है। आज नहीं तो कल, वही होगा जो जनता चाहती है। अतः गोवंशकी रक्षा तथा उन्नतिके लिये प्रचारद्वारा जनमत तैयार करें। इसके लिये समाचारपत्रोंसे सहायता लें। गो-साहित्य छपवाने-बेचनेका प्रयत्न तथा प्रबन्ध किया जाय।

२.गो-सेवाके विचार करनेवाले लोग संगठित होकर सरकार तथा जनताके सम्मुख उपयोगी सुझाव रक्खें।

३.अपने-अपने प्रान्तके धारासभाके सदस्यों तथा सरकारी अधिकारियों, राजनीतिक, धार्मिक तथा सामाजिक सेवा करनेवाली संस्थाओंके चलानेवालोंसे सहायता लें।

४.अपने-अपने प्रान्तकी धारासभाओंमें गोवध-निषेध-कानून बनवाने तथा पशुओंकी उन्नतिकी योजनाओंपर उचित धन खर्च करनेकी कोशिश करें।

५.अपने प्रान्तमें गोवंशकी उन्नति तथा रक्षाके और ह्रास तथा विनाशके जो कार्य हो रहे हैं, उनकी पूरी-पूरी जानकारी रक्खें।

६.चारे-दानेकी हालत देखकर यदि कमी हो तो उसे दूर करनेका उपाय मालूम करके प्रबन्ध करनेकी कोशिश करें।

७.नस्ल-सुधारके कामको प्रोत्साहन देनेके लिये पशु-प्रदर्शिनियाँ भी की जायँ। गोशालाएँ या जो लोग गोपालन करते हैं, उनकी सहायता की जाय।

८.कत्ल किये हुए चमड़ेकी बनी चीजोंका व्यवहार तथा व्यापार कदापि न करें।

९.नकली घीका व्यवहार तथा व्यापार न करें। भारत-सरकारको गाँव-गाँवसे तथा हर एक संस्थासे 'नकली घी घी नहीं तेल है, तेलकी तरह ही बने तथा बिके। घीका रंग-रूप तथा सुगन्ध देकर जमाया न जाय' यह प्रस्ताव भिजवावें।

१०.स्वयं कोई भी ऐसा कार्य न करें जिससे गोवंशको हानि पहुँचनेका सन्देह भी हो। जो संस्थाएँ या लोग गोसेवाका काम करते हों, उन्हें यथासाध्य पूर्ण सहयोग तथा सहायता दें।

जिस तरह महर्षि वशिष्ठ, जमदग्नि तथा राजा दिलीपने अहिंसा और सेवाभावसे ही गोरक्षा की, उसी तरह हम भी करें। जो लोग हमारी तरह गोरक्षा तथा गो-उन्नतिको नहीं मानते, उनकी निन्दा न करें, उनसे द्वेष न करें तथा वैर-भाव न रक्खें। प्रेम और बुद्धिमानीसे ही उनको समझावें। हर समय इस बातको स्मरण रक्खें कि गायोंकी रक्षा भगवान् ही करेंगे। हम तो केवलमात्र अपना कर्तव्य-कर्म ही कर रहे हैं।

बिछुड़न-मिलन

(१)

कलका साथी टाइम-टेबिल
वर्षोंका साथी झोला—
दोनों ही खो गये अचानक
मन धीमे-धीमे बोला—

'जो खो गया, उसे खाने दो!
घुलना मत चिन्तामें उसकी॥
घुलनेसे जो पास तुम्हारे
होगी घटती ही उसकी॥

जो बच रहा उसीमें रमना।
निजकी आत्मसात करना।
और उसे भी क्षणमें खोने
नित अ-खेद प्रस्तुत रहना॥'

(२)

कलका साथी टाइम-टेबिल
वर्षोंका साथी झोला—
खोकर वे मिल गये अचानक
मन धीमे, गँभीर बोला—

'करो नहीं आसक्ति कहीं तुम।
खोनेका दुख भी न करो।
बिछुड़न-मिलन मिलन-बिछुड़नमें
दिवस-रात्रि अनुभूति भरो।

दिन आया, जग गये; रात आई,
सोनेको प्रस्तुत हो॥
शयन-जागरणकी समरस छबि
जीवन-पलकों बीच भरो।'

—बालकृष्ण बलदुवा

भारतीय संस्कृतिका संयुक्त मोर्चा

(लेखक—श्रीसत्यदेवजी विद्यालङ्कार)

[यह लेख बहुत जल्दीमें लिखा गया है। फिर भी इसका आधार लेखकके चिर विचार हैं। लेखक चाहता है कि भारतीय संस्कृतिके लिये एक सुदृढ़ संयुक्त मोर्चा बनाया जाय, जिसमें सभी सम्प्रदायों, मतों तथा विचारोंके लोग सम्मिलित हो सकें। विग्रह तथा भेदभावकी दुर्नीतिका परित्यागकर समन्वय तथा लोकसंग्रहकी उदार भावना तथा व्यापक कल्पनासे काम लिया जाय। क्यों न 'भारतीय संस्कृति-संघ' स्थान-स्थानपर कायम किये जायँ, जिनमें सभी लोग सांस्कृतिक भावनासे प्रेरित होकर सम्मिलित हों। सनातन-धर्मी सम्प्रदायोंने संस्कृतिकी अपेक्षा सम्प्रदायोंको अधिक महत्त्व दिया है। आर्यसमाजसरीखी संस्थाएँ भी अपने सांस्कृतिक स्वरूपको सहसा भूल गयीं और वे भी खेतीको भुलाकर खेतकी रक्षाके लिये बनायी गयी बाड़की रक्षामें लग गयीं। हिंदू-महासभाका राजनीतिक आकांक्षाओंके लिये ही उपयोग किया गया है। हिंदुत्वकी भावनासे ओतप्रोत श्रीमान् जुगलकिशोरजी बिड़लाने जिस 'आर्यधर्म-सेवा-संघ'की स्थापना की है, उसका मुख्य काम भी सेवा-प्रधान हो गया, वह भी संयुक्त सांस्कृतिक मोर्चेकी आवश्यकताकी पूर्ति नहीं कर सका। हिंदू-समाजका सांस्कृतिक मोर्चा निर्बल पड़ रहा है। लेखकने अपने इसी विचारको इस लेखमें व्यक्त करनेका प्रयत्न किया है। हिंदू-संस्कृतिके प्रेमी पाठक इस लेखको इसी सहृदय दृष्टिसे पढ़नेकी कृपा करें। —लेखक]

'हिंदू' शब्दके नामसे जितना कोलाहल मचाया जाता है, उतना काम नहीं किया जाता। उसके नामसे जितना आन्दोलन होता है, उतना संगठन नहीं हो पाता। उसकी भावनाका जितना उपयोग किया जाता है, उतनी ठोस कोई वस्तु नहीं बन पाती। इसका कारण क्या है? हिंदू किसी ठोस संगठनका नाम नहीं है। धर्म, सम्प्रदाय, धार्मिक विश्वास, धार्मिक कर्मकाण्ड, सामाजिक जीवन, पारस्परिक आचार-विचार तथा वैवाहिक सम्बन्ध आदि सभी दृष्टियोंसे वह इतना अधिक बिखरा हुआ है कि उसपर 'एक' शब्द किसी भी अर्थमें चरितार्थ नहीं होता। यदि कहीं प्रभुकी अपार कृपा हिंदू-जातिपर न हुई होती, तो इस विशृङ्खल स्थितिमें उसके लिये बना रहना सम्भव न था और संसारकी अन्य अनेक जातियोंकी तरह उसका भी संसारके इतिहासमें केवल नाम शेष रह गया होता। उसके अस्तित्वको बनाये रखनेके लिये ही सृष्टिके आरम्भमें प्रकट हुए चार ऋषियोंकी परम्पराको प्रभुने जिस रूपमें कायम रक्खा है, उसीके लिये भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें 'संभवामि युगे युगे' शब्दोंका प्रयोग किया है। पूर्ण अवतारी महापुरुषोंके अतिरिक्त भी आंशिक अवतारीके रूपमें जितने महापुरुष, संत, महात्मा और पथप्रदर्शक हिंदू-जातिके अस्तित्वको बनाये रखनेके लिये प्रकट हुए हैं, उतने किसी भी अन्य जातिके लिये और किसी भी अन्य देशमें उत्पन्न नहीं हुए। भगवान्‌की इस अपार कृपाका सुपरिणाम भोगनेवाला हिंदू स्वभावतः आस्तिक होते हुए भी कुछ अंशोंमें नास्तिक बन गया! उसीका परिणाम यह हुआ कि उसने खेतकी रक्षाके लिये बनायी गयी बाड़को ही असली खेती मान लिया और वह उसीकी रक्षामें उलझ गया। हिंदू-जातिके अस्तित्वको बनाये रखनेके लिये प्रकट होनेवाले महापुरुषोंने अपने समय तथा स्थितिके अनुसार और तत्कालीन संकटका सामना करनेके लिये जो भी व्यवस्था की, वह उस बाड़की तरह सामयिक थी। त्रैकालिक धर्मकी रक्षाके लिये—गीताके शब्दोंमें कहा जाय तो धर्मके प्रति पैदा हुई ग्लानिको दूर कर उसका फिरसे अभ्युत्थान करनेके लिये की गयी तत्कालीन व्यवस्थाको ही मनुष्योंने त्रैकालिक धर्मका स्थान दे दिया और उसमें उलझकर उसने अपने लिये अपना मार्ग भिन्न बना लिया। इसी प्रकार हर अवतारी महापुरुषके नामपर अलग-अलग पन्थ, सम्प्रदाय, मत, मतान्तर आदि बनते चले गये। उनके अनुसार अलग-अलग सामाजिक व्यवस्था बनकर आचार-विचार तथा रहन-सहनकी भी भिन्न-भिन्न परिपाटियाँ बन गयीं।

इस भेद-भाव, विभिन्नता अथवा पृथक्तामें भी एक सौन्दर्य है। यदि उस सौन्दर्यको विवेकपूर्वक स्वीकार किया जा सके, तो हिंदूरूपी कमलकी पंखड़ियोंकी इस शोभाको सहजमें समझा जा सकता है। अन्यथा, उन पंखड़ियोंका विनाश होकर कमलका सौन्दर्य एवं आकर्षण सर्वथा नष्ट-भ्रष्ट भी हो सकता है। हिंदूरूपी कमलकी रक्षाका दायित्व उन सभीपर है, जिनका उसकी किसी भी पंखड़ीसे कैसा भी सम्बन्ध है। भिन्न-भिन्न पंखड़ियोंवाला कमल जैसे एक ही भूमिमें जन्म लेता है, वैसे ही हिंदू-जाति या समाजके इन सभी सम्प्रदायोंको जन्म देनेवाली भूमि एक ही है। उन सबका मूल स्थान एक है। इस मूल स्थानके नाते सबकी

संस्कृति तथा सभ्यता भी एक है, जिसको भूमिके नाते 'हिंदू' न कहकर 'भारतीय' कहना अधिक संगत और यथार्थ है। सामाजिक दृष्टिसे जिसे 'हिंदू' कहा जाता है, उसको सांस्कृतिक अथवा राष्ट्रीय दृष्टिसे 'भारतीय' कहना चाहिये। इस भारतीय संस्कृति अथवा सभ्यताकी रक्षामें ही हिंदुत्वकी अथवा हिंदूकी रक्षा सुनिश्चित है। इसीलिये साम्प्रदायिक भेदभाव और सामाजिक पृथक्ता रहते हुए भी इस भारतीयताकी रक्षाके लिये समानरूपसे प्रयत्न करना सभीके लिये आवश्यक हो जाता है।

हमारे प्रधान मन्त्री पं० श्रीजवाहरलालजी नेहरू प्रायः यह कहा करते हैं कि हमारा देश हम सबसे बड़ा है। उसके बड़प्पनकी रक्षा करने और उसको और भी बड़ा बनानेपर भी वे विशेष जोर देते रहते हैं। हमारे देशका यह 'बड़प्पन' क्या है? हर देश अथवा राष्ट्रकी अपनी कोई परम्पराएँ होती हैं, अपने कोई आविष्कार होते हैं और अपनी कोई मान्यता अथवा धारणा भी होती है। शब्दोंमें उनको इतने स्पष्ट रूपमें व्यक्त नहीं किया जा सकता। उनका कोई शृङ्खला-बद्ध इतिहास भी सम्भवतः उपस्थित नहीं किया जा सकता। न उनका कोई भौगोलिक मानचित्र ही उपस्थित किया जा सकता है। फिर भी वह एक बड़प्पन है, जिसका गर्व हर देशवासीको होता है और होना भी चाहिये। इंग्लैंडके लोगों-का सबसे बड़ा गर्व उस पार्लमेंटरी प्रजातन्त्री शासनप्रणाली-के आविष्कारके लिये है, जिसमें राजाकी एकतन्त्र सत्ता और जनताकी प्रजातन्त्री आकांक्षाओंका सुन्दर समन्वय किया गया है। अमेरिकाका गर्व यह है कि उसने संसारमें स्वतन्त्रताकी पताका फहरायी है और दोनों विश्वव्यापी महायुद्धोंमें उसने विश्वको स्वतन्त्रताका वरदान दिया है। ऐसे ही छोटे-मोटे गर्वकी बातें दूसरे राष्ट्रोंके लोग भी प्रस्तुत कर सकते हैं और करते भी रहते हैं। रूसको अपने उस साम्यवादका गर्व है, जिसके बिना उसकी दृष्टिमें संसारमें समता, सुख तथा शान्तिकी स्थापना हो नहीं सकती। हिटलरने जर्मनोंमें 'आर्यत्वके विशुद्ध रुधिर' का गर्व पैदा किया था। इसी प्रकार जापानके लोगोंका गर्व 'अपनेको सूर्यकी सन्तान' माननेमें था। वस्तुतः देशवासियोंका यही गर्व अपने-अपने राष्ट्रका बड़प्पन है। और यह बड़प्पन उतना ही बड़ा महान् और गौरवपूर्ण है, जितना वह प्राचीन, स्थिर और व्यापक है। हिंदूका बड़प्पन क्या है? उसका यह गर्व है कि सृष्टिका निर्माण उसके देशके प्रादुर्भावके साथ हुआ है। मानव सबसे पहले उसीके देशमें प्रकट हुआ है। वेदके रूपमें भगवान्‌की दिव्य ज्ञानमयी वाणी सबसे पहले उसीके देशमें अवतरित हुई है। ज्ञान-विज्ञानका अक्षय भण्डार चारों वेदके रूपमें सबसे पहले उसीको प्राप्त हुआ है। इसी भण्डारसे शिक्षा-दीक्षाकी जो लहरें विश्वमें फैलीं, उसीमें गोता लगाकर संसारी मानवने संस्कृति-सभ्यता, आचार-विचार तथा रहन-सहनका पहला पाठ पढ़ा। मनु महाराजने इस गर्वको इन शब्दोंमें व्यक्त किया है—

> एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
> स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्पृथिव्यां सर्वमानवाः॥
> (२। २०)

'संसारके सभी मनुष्योंने इसी देशमें पहले पैदा हुए लोगोंसे साक्षात् करके अपने-अपने चरित्रकी शिक्षा-दीक्षा प्राप्त की है।' 'चरित्र' शब्द बहुत व्यापक अर्थका सूचक है। इस प्रकार हिंदू संसारकी आदि अर्थात् सर्वप्रथम संस्कृतिका उत्तराधिकारी है और यह उत्तराधिकार उसको भगवान्‌की कृपासे ही प्राप्त हुआ है। वह अपनेको भगवान्‌का उत्तराधिकारी अथवा प्रतिनिधि भी मान सकता है। यह कितना बड़ा गर्व और कितना बड़ा बड़प्पन है। प्राचीनता, महानता और व्यापकताकी दृष्टिसे भी इससे अधिक बड़ा बड़प्पन और क्या हो सकता है? मानो हिंदूके आर्यावर्त देशका निर्माण भगवान्‌ने स्वयं अपने हाथोंसे किया है और आर्यावर्तरूपी मन्दिरमें मानवरूपमें हिंदू मूर्तिकी स्थापना भी भगवान्‌ने स्वयं अपने हाथोंसे ही की है। अध्यात्म-शक्तिके आदिस्रोत भगवान्‌ने मानो स्वयं ही उस मूर्तिमें आध्यात्मिकताकी प्राण-प्रतिष्ठा भी की है। इसीलिये हिंदू स्वभावतः आस्तिक और आध्यात्मिक है। शरीरसे भिन्न आत्मामें उसका विश्वास, जो कि गीताके उपदेशका सार है, उसकी एक विशेषता है, जो संसारके अन्य मानव-समाजसे उसमें विशेषरूपमें पायी जाती है। भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों, आचार-विचारों तथा सामाजिक व्यवस्थासे सम्बन्ध रखते हुए भी हिंदू इस विशेषताका समानरूपसे अधिकारी है, संसारकी आदि-संस्कृतिका समानरूपसे उत्तराधिकारी है और भगवान्‌की अपार कृपासे प्राप्त हुए इस बड़प्पनका उसको समानरूपसे गर्व करनेका भी पूर्ण अधिकार है।

अब प्रश्न यह है कि इसकी रक्षा और वृद्धि किस प्रकार की जाय?

भगवान्‌की अनन्त एवं दिव्य प्रेरणामें विश्वास रखनेवाला हिंदू संसारमें कभी भी हार नहीं मान सकता। उसके पुरुषार्थका प्रयोजन इतना ही है कि वह अपने ध्येयकी सिद्धिमें सारी सामर्थ्य अर्थात् पुरुषार्थको खपा दे। इसीमें पुरुषकी सार्थकता है। सीता अन्तमें रामके पास न रह सकीं। इससे रामायणकी सारी कथा तो निरर्थक नहीं हो जाती। भगवान् श्रीकृष्ण महाभारतके घोरतम युद्धके बाद भी पाण्डवोंका राजसूय-यज्ञ नहीं रच सके। इसका अर्थ यह तो नहीं कि महाभारतका सारा खेल व्यर्थ ही हुआ। निष्काम कर्मका यही तो स्वरूप है। 'मा कर्मफलहेतुर्भूः' के उपदेशका यही तो सार है। पहले परीक्षणोंकी असफलतासे निराश न होकर नित नया प्रयत्न करनेमें लगनेका यही तो मर्म है। इसीलिये इस दिशामें किये गये प्रयत्नोंमें यदि कोई विशेष सफलता नहीं मिल सकी, तो भी उनसे निराश होनेका कोई कारण नहीं होना चाहिये। भगवान् गौतम और महावीर स्वामी तथा शङ्कराचार्यसे लेकर आजतक जितने भी महापुरुष, महात्मा, संत और आचार्य हुए हैं, उन सबका यही प्रयत्न था कि हिंदू-समाज तथा भारतीय राष्ट्रके बड़प्पनकी रक्षा और वृद्धि हो। उनके प्रयत्नोंको साम्प्रदायिक रूप तो उनके हम भोले अनुयायियोंने दिया है, जिन्होंने बाड़को ही असली खेती मान लिया है। इन महापुरुषोंकी कभी न टूटनेवाली शृङ्खलाने ही हिंदू-समाजके अस्तित्वको कायम रक्खा है। उसका स्वरूप विकृत हो जानेपर भी विनष्ट नहीं हो सका। उनके प्रयत्नोंको जारी रखनेकी आज और भी अधिक आवश्यकता इसलिये है कि आज राजनीतिक दृष्टिसे स्वतन्त्र होनेके कारण अपनी छाप दूसरोंपर भी लगानेका हमें अलभ्य अवसर प्राप्त हुआ है। जब देश राजनीतिक स्वतन्त्रताकी प्राप्तिके महान् प्रयत्नमें संलग्न था, तब तो यह कहा जाता था कि 'न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंङ्गिनाम्।' राष्ट्रका संयुक्त राष्ट्रीय मोर्चा कमजोर न पड़ जाय और जनताका सारा ध्यान एक ही दिशामें लगा रहे,—इसलिये यह आवश्यक समझा जाता था कि अन्य विषयोंपर उसका ध्यान न बँटा जाय। परंतु अब उस मोर्चेपर पूर्ण विजय प्राप्त कर लेनेके पश्चात् जो मुख्य प्रश्न हमारे सामने है—वह है 'राष्ट्र-निर्माण' का। राष्ट्र-पिता महात्मा गाँधीके शब्दोंमें कहा जाय तो 'रामराज्यकी स्थापना' का। निर्माणका कार्य तो किसी सुदृढ़ नींवपर और किसी सुनिश्चित योजनाके अनुसार ही किया जाना चाहिये। यदि अच्छे आर्चिटैक्टका बनाया हुआ नक्शा सामने नहीं है, तो बड़े-से-बड़ा ठेकेदार भी भवनका निर्माण कर नहीं सकता। हमारे राष्ट्रके निर्माणका नक्शा क्या होना चाहिये और उसकी नींवकी भूमि क्या होनी चाहिये ? इसमें दो मन नहीं होने चाहिये कि वह नक्शा 'भारतीय' और वह भूमि भी 'भारतीय' ही होनी चाहिये। तभी हमारे देशका बड़प्पन सुरक्षित रह सकेगा और उसकी अभिवृद्धि भी हो सकेगी। भारतीय संस्कृति, सभ्यता तथा आध्यात्मिकताको तिलाञ्जलि देनेके बाद 'भारतीय' शब्दका कुछ भी अर्थ नहीं रहता। लार्ड मैकालेका स्वप्न इस देशमें ऐसे भारतीयोंकी एक श्रेणी पैदा करना था, जो हाड़-मांस, रुधिर तथा रूप-रंगमें भारतीय होते हुए भी रहन-सहन, आचार-विचार, दिल-दिमाग तथा भावना-कल्पनामें भारतीय न रहे और अंग्रेजोंके रंगमें रँग जाय। वे ऐसे लोगोंको अपना दस्तक बनाकर करोड़ों भारतीयोंपर हुकूमत करना चाहते थे। उनका स्वप्न पूरा हुआ। ऐसी श्रेणीके लोग यहाँ उससे भी कहीं अधिक पैदा हो गये, जितने कि वे चाहते थे। इस स्वप्नको देखनेके कुछ ही वर्षों बाद उनको यह दीख पड़ने लगा था कि तीस वर्षों बाद बंगालमें एक भी व्यक्ति ऐसा न रहेगा, जो अपनेको हिंदू कहनेमें गर्व अनुभव करेगा। परंतु जिस हिंदू-जातिका मुगलोंके सात-आठ सौ वर्षोंके शासनमें भी अन्त न हुआ था, उसका इतनी जल्दी अन्त नहीं हो सकता था। फिर भी इतना अवश्य हुआ कि अंग्रेजियत उर्फ ईसाइयतके कीटाणु हमारेमें क्षयके कीटाणुओंकी तरह घुस गये और आज स्थिति यह है कि अंग्रेजके चले जानेपर भी वे कीटाणु भारतीयताको विषाक्त बना रहे हैं। उनसे छुटकारा पाना हमारे लिये कठिन हो रहा है। राष्ट्रपिता महात्मा गाँधीने भी इस विषको बुझानेका प्रयत्न अपने ढंगसे किया; किंतु उनके प्रयत्न भी सफल नहीं हुए। आज अपने देशका जो नया विधान बन रहा है और हिंदू-समाजका कायाकल्प करनेके नामपर जो विधि-विधान बनाये जा रहे हैं, उनमें 'भारतीयता'के स्थानमें 'अंग्रेजियत'को ही प्रधानता दी जा रही है। यदि 'अनिष्टापत्ति' के रूपमें ही पाँच वर्षोंतक अंग्रेजीको नहीं छोड़ा जा सकता, तो स्वतन्त्रताके गत डेढ़ वर्षोंमें उसको छोड़नेके कुछ थोड़े-से लक्षण तो अवश्य प्रकट होने चाहिये। दुःख यह देखकर होता है कि हम अंग्रेजोंके पद-चिह्नोंपर मानो आँखें मूँदकर चलते चले जा रहे हैं। राजनीतिमें तो क्या; अर्थनीति, समाजनीति तथा धर्मनीतिमें भी हम अबतक उन्हींके अनुयायी बने हुए हैं। हमारे सार्वजनिक जीवनतकमें उन्हींके पहरावेका महत्त्व पहलेके ही समान बना हुआ है। इस सबको बदलकर भारतीयताकी प्रतिष्ठा किये

बिना हम न तो भारतीय राष्ट्रका निर्माण कर सकेंगे और न अपने राष्ट्र-निर्माणकी नींव भारतीयताकी भूमिपर डाल सकेंगे।

इस दिशामें पहला प्रयत्न उनको करना चाहिये जो अपनेको हिंदू अथवा भारतीय कहते हैं और जिनकी भारतीयतामें कुछ थोड़ी-सी भी निष्ठा या विश्वास है। सांस्कृतिक दृष्टिकोणको प्रधानता देते हुए हमें भारतीयताकी भावना तथा कल्पनाको सुदृढ़ बनानेका प्रयत्न करना चाहिये। राजनीतिक क्षेत्रमें वैसे विध्वंसात्मक प्रयोग करनेकी हमें तनिक भी आवश्यकता नहीं है, जैसे पराधीन देशोंमें किये जाते हैं अथवा आदर्शोंकी भिन्नता रखनेवाले दलोंमें एक-दूसरेके प्रति किये जाते हैं। 'बालिग मताधिकार' के आधारपर कायम होनेवाले प्रजातन्त्रके आदर्शको स्वीकार कर लेनेपर राजनीतिक सत्ताका केन्द्र जनताके मतोंमें निहित हो जाता है। इसीलिये राजनीतिक दृष्टिसे भी विध्वंसात्मक प्रवृत्तियोंमें लगनेकी अपेक्षा लोकमतको शिक्षित करनेमें लगना अधिक श्रेयस्कर और प्रभावोत्पादक है। विरोधकी भावनाका भी परित्याग कर लोकमतको भारतीयताके रंगमें रँगनेका प्रयत्न होना चाहिये। किन हिंदुओंपर भारतीय भावना तथा कल्पनाका सुदृढ़ होना निर्भर है, यह स्पष्ट है कि वे वर्तमान विश्रृङ्खल स्थितिमें पड़े रहकर अपने दायित्वको पूरा नहीं कर सकते। हिंदू-महासभा वर्षोंसे कार्यक्षेत्रमें होनेपर भी इस कामको नहीं कर सकी। कारण स्पष्ट है। उसने हिंदुओंकी वर्तमान विश्रृङ्खल स्थितिका कुछ भी उपचार नहीं किया। वह उन नेताओंकी राजनीतिक आकाङ्क्षाओंका खिलौना बनी रही, जिन्होंने उसका समय-समयपर उनकी पूर्तिके लिये उपयोग किया। इसीलिये धारासभाओंके चुनावोंके दिनोंमें, उसमें जो हलचल दीख पड़ती थी, वह चुनावोंके साथ ही समाप्त हो जाती थी। कोई भी धार्मिक, सामाजिक अथवा आध्यात्मिक किंवा सांस्कृतिक कार्यक्रम उसके सामने नहीं रहा। आर्यसमाज, ब्राह्मसमाज अथवा प्रार्थनासमाज आदि संस्थाएँ नयी शक्तिके रूपमें अवश्य प्रकट हुईं। उन्होंने समन्वय-प्रधान काम न करके इतना विग्रह-प्रधान काम किया कि उनका अपना अलग ही संगठन बन गया और उसने भी पृथक् सम्प्रदायका रूप धारण कर लिया। इसीलिये ये संस्थाएँ भी सांस्कृतिक दृष्टिसे ऐसी कोई विशिष्ट चेतना पैदा न कर सकीं। महात्मा गाँधी पुराने विचारोंके लोगोंको अपनी ओर आकर्षित करनेमें सफल नहीं हो सके, फिर भी उन्होंने भारतीय आध्यात्मिकता तथा संस्कृतिके लिये कुछ-न-कुछ अनुभूति अवश्य ही पैदा की है। हिंदूमात्रमें भारतीयताके लिये जो ममता थी, उससे उन्होंने लाभ उठाया और राजनीतिमें 'सत्य' तथा 'अहिंसा' के जो धार्मिक प्रयोग किये, उनसे उनके आन्दोलनको आध्यात्मिकताका पुट मिल जानेसे सर्वसाधारण जनतापर उनका जादूका-सा असर हुआ। सर्वसाधारण हिंदूजातिकी इन्हीं भावनाओंका सदुपयोग राष्ट्र-निर्माणके महान् कार्यके लिये भी अवश्य ही किया जाना चाहिये। इसीलिये भारतीय संस्कृतिकी पृष्ठ-भूमिको बलवान् बनाकर इस आध्यात्मिक भावनाको भी परिपुष्ट बनाना चाहिये।

तो फिर उसके लिये क्या किया जाय? आध्यात्मिकता-प्रधान व्यक्तियों तथा नेताओंका यह कर्तव्य होना चाहिये कि वे व्यक्तिगत साधनाद्वारा व्यक्तिगत मोक्षकी ही एकमात्र साधनामें न लगे रहकर समाजका वर्तमान विश्रृङ्खल स्थितिसे उद्धार करनेका कुछ प्रयत्न अवश्य करें। वे समाजके सम्पर्कमें आकर उसका पथ-प्रदर्शन करें। महात्मा गाँधीके खाली स्थानकी वे पूर्ति करें। हिंदू-समाजमें जितने भी सम्प्रदाय अथवा संस्थाएँ हैं, वे विरोधपूर्ण प्रचारात्मक कार्यका एकदम ही अन्त करके अपनेको समन्वयात्मक एवं संग्रहात्मक प्रवृत्तियोंमें लगावें। अपने बाह्य भेदभावसे ऊपर उठकर उस आन्तरिक ध्येयपर दृष्टि डालें, जिसमें अन्तरकी अपेक्षा समानता अधिक है। यदि कुछ सामयिक समस्याओंको लेकर भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों, संस्थाओं तथा विचारोंके लोग एक हो सकते हैं, तो स्थायी सांस्कृतिक ध्येयके लिये सब एक क्यों नहीं हो सकते। अपने साम्प्रदायिक स्वरूपकी अपेक्षा सांस्कृतिक स्वरूपपर यदि अधिक ध्यान दिया जा सके और संस्कृति, साहित्य, भाषा तथा ऐतिहासिक परम्पराओंके रूपमें प्रकट होनेवाली एकताका कुछ अधिक चिन्तन किया जाय, तो पृथक्ताकी भेदमूलक संकीर्ण भावनाका अन्त होकर समानताकी श्रेयस्कर उदार भावना तथा व्यापक कल्पनाका निश्चय ही उदय होगा। इन पंक्तियोंके लेखकको एक बार एक ऋषिकुलमें जानेका अवसर प्राप्त हुआ। एक गुरुकुलका स्नातक होनेसे उसने गुरुकुल और ऋषिकुलकी समान पृष्ठ-भूमिका चित्र खींचते हुए ब्रह्मचर्यप्रधान शिक्षा और उसके द्वारा प्राचीन भारतीय संस्कृतिके पुनरुद्धारपर जोर दिया और कहा कि इस ध्येयकी पूर्तिमें दोनों संस्थाओंमें अन्तर कहाँ है और इसी दृष्टिसे आर्यसमाजों तथा सनातनधर्म-सभाओंमें भी भेद कितना है? दोनों दिल्लीसे बम्बई जाना

चाहते हैं। एक जी० आई० पी० के रास्तेसे जा रहा है और दूसरा बी० बी० सी० आई० के रास्तेसे। एक ट्रेनसे यात्रा कर रहा है, दूसरा हवाई जहाजसे। इसी प्रकार यदि अन्तरको मिटानेका प्रयत्न किया जा सके, तो हिंदू-समाजका वर्तमान विशृङ्खल स्थितिसे उद्धार होकर हिंदू-संस्कृतिके आध्यात्मिक मोर्चेको कुछ अधिक बलशाली, प्रभावशाली तथा महत्त्वशाली बनाया जा सकता है। तब तो भारतीयताकी रक्षा होकर भारतका बड़प्पन भी सुरक्षित रह सकता है और उसकी अभिवृद्धि भी हो सकती है।

भगवान्‌की कृपासे हम उस युगसे पार हो चुके हैं, जिसमें अमेरिका, अफ्रीका, आस्ट्रेलिया तथा न्यूज़ीलैंड आदिके असली निवासी तो सदाके लिये सभी दृष्टियोंसे गुलाम बना दिये गये हैं और बाहरसे आकर वहाँ उपनिवेश बसानेवाले वहाँके मालिक बन बैठे हैं। आज उन देशोंकी अपनी संस्कृति, सभ्यता, भाषा, साहित्य तथा ऐतिहासिक परम्पराओंका कहीं पता भी नहीं है। उनको 'जंगली' बनाकर सदाके लिये 'जंगली' बना दिया गया है। हमें भी वैसे ही 'जंगली' बना देनेवाले लोग यहाँ भी आये थे। उन्होंने वेदोंको गँडरियोंके गीत बताकर हमारी संस्कृति, साहित्य, भाषा तथा इतिहास आदिका भी तिरस्कार करके हमारे गर्व तथा बड़प्पनको जड़से मिटा देना चाहा था। पर, अपने उस उद्योग और प्रयोगमें वे पूरे सफल नहीं हो सके। उनकी वह विफलता हमारी सफलताकी सूचक अवश्य है, किंतु अपनी सफलताको पूर्णतातक तभी पहुँचाया जा सकेगा, जब हमारे राष्ट्रका नव-निर्माण भारतीय संस्कृतिके ढाँचेमें किया जा सकेगा। इस प्रयोगको सफल बनाना उन सभीका कर्तव्य है, जो अपनेको हिंदू कहते और मानते हैं। हिंदू-संस्थाओं तथा सम्प्रदायोंका दायित्व और भी अधिक है। उनके सञ्चालकों तथा नेताओंपर और भी बड़ा भार है। आनेवाली सन्तानें कहीं यह न कहें कि ठीक समयपर हमने जो चूक की, उसका दुष्परिणाम उनको भोगना पड़ा है। इस चूकसे हमें यत्नपूर्वक बचना ही चाहिये।

सम्मान्य विद्यालङ्कारजीके विचारपूर्ण लेखपर प्रत्येक विचारशील हिंदू-संस्कृतिके माननेवाले पुरुषको ध्यान देना चाहिये और ऐसा प्रयत्न करना चाहिये जिसमें 'भारतीय संस्कृति-संघ' जैसी किसी प्रभावशालिनी और कार्यकारिणी संस्थाका शुभ सम्भव हो सके।

—सम्पादक

काबुल-विश्वविद्यालयमें संस्कृतकी शिक्षा

(लेखक—डा० रघुवीर)

अफगानिस्तान एक छोटा-सा देश है। प्राचीन कालमें सांस्कृतिक रूपसे वह भारतका ही एक भाग था। आठवीं शताब्दीमें जब कि अफगानिस्तानके लोग मुस्लिम-धर्ममें दीक्षित हुए, यह सांस्कृतिक सम्बन्ध टूट गया। आठवीं शताब्दीतक अफगानिस्तानमें बौद्ध-धर्मका राज्य रहा। बौद्ध-कलाके सुन्दरतम नमूने अफगानिस्तानसे ही प्राप्त होते हैं। भगवान् बुद्धकी सबसे बड़ी मूर्तियाँ बनियानमें एक चट्टान काटकर बनायी गयी हैं। इनमेंसे एक १६० फुट ऊँची है। सारा अफगानिस्तान बौद्धकालीन मूर्तियोंसे भरा पड़ा है।

पुराणोंमें भारतकी सीमा ओक्सस (जो कि संस्कृत शब्द वक्षुका ग्रीक अपभ्रंश है) तक विस्तृत बतायी गयी है। वैदिक कालमें काबुल-नदी कुभके नामसे प्रसिद्ध थी।

अध्यापन-क्रम

अब अफगान-सरकारने यह आवश्यक समझा है कि काबुल-विश्वविद्यालयमें साहित्य-विभागके छात्रोंके लिये संस्कृतको आवश्यक विषय बना दिया जाय। विश्वविद्यालयमें चार विभाग हैं—साहित्य-विभाग, कानून-विभाग, विज्ञान-विभाग एवं ओषधि-विभाग। साहित्य-विभागमें जो विशेष विषय पढ़ाये जाते हैं उनमें पश्तो और फारसी, (समालोचनात्मक रूपसे) भाषाविज्ञान, मनोविज्ञान, शास्त्र एवं

इसी प्रकार और विषय हैं। सरकारने यह अनुभव किया है कि जिस प्रकार यूरोपके देशोंमें ग्रीक और लेटिनको मातृ-भाषा समझा जाता है, उसी प्रकार संस्कृत भी मातृभाषा है, जिसका पश्तो और फारसीके छात्रोंको अवश्य अध्ययन करना चाहिये, जिससे वे उनकी पृष्ठभूमिको भलीभाँति समझ सकें।

उक्त विश्वविद्यालयमें संस्कृतका अध्ययन चार वर्षोंतक कराया जाता है और अवेस्ताका दो वर्षतक। संस्कृतके अध्ययनके लिये सप्ताहमें तीन पीरियड दिये गये हैं। प्रथम वर्षमें छात्र नागरीलिपिका लिखना-पढ़ना, सुन्दर लिखावट, प्रारम्भिक व्याकरण, संस्कृतमें साधारण बातचीत तथा श्रीईश्वरचन्द्र-ऋजुपाठका अध्ययन करते हैं। इस समय वहाँ संस्कृत-श्रेणीमें २५ छात्र हैं। दूसरे वर्ष इमला पढ़ना, सुन्दर लिखावट, अनुवाद, बातचीतका अध्ययन कराया जाता है। और प्रारम्भिक व्याकरण जारी रहता है। अध्ययनके लिये श्रीमद्भगवद्गीता पाठ्यपुस्तकके रूपमें रक्खी गयी है। पहलेके चार अध्याय दूसरे वर्षमें पढ़ाये जाते हैं। इनमेंसे २५ श्लोक कण्ठस्थ करने पड़ते हैं। अफगान बालक गीता और कुरानके तुलनात्मक अध्ययनमें अत्यधिक रुचि रखते हैं। उन्हें अत्यन्त आश्चर्य होता है कि भारतमें गीता-जैसे अद्वितीय दर्शनग्रन्थ हैं। इसके अतिरिक्त भारतीय साहित्यकी प्राचीनता उनकी आँखें खोल देनेवाली है और एक अलौकिक प्रेरणाके समान है। तीसरे वर्ष गीताके और छः अध्याय पढ़ाये जाते हैं। संस्कृत-साहित्यका इतिहास प्रारम्भ कर दिया जाता है। नाटकोंका भी कुछ अध्ययन कराया जाता है। चौथे वर्ष गीताके साथ शकुन्तलाको भी जोड़ दिया जाता है। गद्यभाग तो सम्पूर्णरूपसे पढ़ाया जाता है, किंतु पद्यभागमें केवल चुने हुए श्लोक। संस्कृत-साहित्यका इतिहास जारी रहता है और छात्रोंको प्राचीन गद्य और पद्यका विस्तार रूपसे दिग्दर्शन कराया जाता है। वेदान्त तथा विभिन्न भारतीय दर्शनोंपर प्रारम्भिक भाषण दिये जाते हैं। इस समय द्वितीय वर्षमें ग्यारह, तृतीय वर्षमें नौ और चतुर्थ वर्षमें पाँच छात्र पढ़ते हैं।

संस्कृत-पुस्तकालय

संस्कृतका एक छोटा-सा पुस्तकालय भी खोल दिया गया है, जिसमें ३०० पुस्तकें हैं। अफगानी छात्र कट्टर मुसल्मान हैं; किंतु उनमें दृष्टिकोणकी भावना बढ़ गयी है। आशा की जाती है कि अफगान छात्रोंद्वारा संस्कृतका अध्ययन भारत और अफगानिस्तानके स्नेह-सम्बन्धको और भी दृढ़ करेगा।

मैं भारतीय संस्कृतिके प्रेमियोंसे निवेदन करूँगा कि वे संस्कृत पुस्तकों तथा संस्कृत-साहित्यपर अंग्रेजी, फ्रेंच तथा जर्मन भाषाओंमें लिखी गयी पुस्तकोंका काबुल-विश्वविद्यालयको उपहार दें। बम्बईके पार्सी पार्सी-साहित्यके एक बहुत बड़े संग्रहको पहले ही काबुल-विश्वविद्यालयको भेज चुके हैं। स्कूलोंमें तीन भाषाएँ पढ़ायी जानेके कारण अफगान छात्र तीन भागोंमें बाँटे जा सकते हैं। वहाँ तीन प्रकारके स्कूल हैं—एक तो वह जो अमरीकी या अंग्रेजोंकी देख-रेखमें हैं, दूसरे जर्मनोंकी और तीसरे फ्रांसीसियोंकी। पाँचवीं श्रेणीसे लेकर बारहवीं श्रेणीतक जो कि उच्चतम श्रेणी है, छात्र एक स्कूलमें अंग्रेजी पढ़ते हैं, दूसरेमें जर्मन और तीसरेमें फ्रेंच। जो अंग्रेजी पढ़ते हैं वे जर्मन और फ्रेंच कुछ नहीं जानते। इसी प्रकार जो फ्रेंच पढ़ते हैं वे अंग्रेजी और जर्मनीसे सर्वथा अनभिज्ञ रहते हैं। विश्वविद्यालयकी प्रत्येक श्रेणीमें ऐसे छात्र होते हैं जो या तो अंग्रेजी या जर्मन या फ्रेंच जानते हैं। सभी अफगान छात्रोंकी साधारण भाषा केवल पश्तो और पर्शियन ही है। संस्कृतके वर्तमान प्रोफेसर डा० परमानन्द बहल अबतक इन्हीं यूरोपीय भाषाओंके माध्यमसे संस्कृत पढ़ाते आ रहे हैं। केवल अभी उन्होंने पर्शियनका अध्ययन किया है ताकि उसके माध्यमसे पढ़ा सकें। मैंने उपर्युक्त बातें इसलिये लिखी हैं कि वहाँ प्रयुक्त होनेवाली भाषाओंमें लिखी गयी हमारे देशसे सम्बन्ध रखनेवाली पुस्तकोंको काबुल भेजा जाय।

अन्तमें यह भी बता देना चाहता हूँ कि अफगान छात्र अपने नामके आगे आर्यन लिखनेमें गौरव अनुभव करते हैं। वे 'आर्यन' नामक एक 'मासिक पत्रिका' भी प्रकाशित करते हैं।

हिंदू-कोड-बिल

यह बिल हिंदू-जातिके लिये कितना बड़ा हानिकारक है, इसपर 'कल्याण' में समय-समयपर लिखा जा चुका है। देशके बड़े-बड़े धर्माचार्यों, विद्वानों और न्यायाधीशोंने तो इसका विरोध किया ही था, इधर कांग्रेस-अध्यक्ष श्रीपट्टाभि सीतारामैय्या और धारा-सभाके उपाध्यक्ष श्रीअनन्तशयनम् आयङ्गर महोदयने भी विरोध किया है। धारासभाके अन्यान्य बहुत-से सदस्य भी इसका विरोध कर रहे हैं और निष्पक्ष दृष्टिसे इसे असामयिक और हानिकर मान रहे हैं। अब ये बातें लोगोंके समझमें आ रही हैं कि—

(१) इस बिलसे हिंदू-संस्कृतिपर महान् आघात पहुँचेगा, उसकी पवित्र विवाह-संस्था नष्ट हो जायगी, आर्थिक सुव्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जायगी और परस्पर कलह, वैमनस्य, द्वेष और मुकद्दमेबाजियाँ बढ़ेंगी। स्त्री-जातिको कोई भी लाभ नहीं होगा, प्रत्युत उनकी नैतिक-धार्मिक और आर्थिक हानि ही होगी। उनका चिर-गौरव नष्ट हो जायगा।

(२) इस धारा-सभाको इस प्रकारके कानून बनानेका न्यायतः अधिकार ही नहीं है। और—

(३) यदि दुराग्रहपूर्वक इसे कानूनका रूप देनेका प्रयत्न किया गया तो अधिकांश मतदाताओंमें बहुत बड़ा क्षोभ उत्पन्न होगा, जिससे आगामी चुनावमें कांग्रेस पक्षको मत प्राप्त करनेमें बड़ी कठिनाई होगी, जो कदापि वाञ्छनीय नहीं है।

इसके विरोधमें स्थान-स्थानपर सभाएँ हो रही हैं और महिलाओंके द्वारा जोरोंसे विरोध किया जा रहा है, पर परिस्थिति देखते, जो कुछ हो रहा है, सो अभी बहुत थोड़ा है। अतएव—

(१) भारतके समस्त प्रान्तोंमें, गाँव-गाँवमें सभाएँ करके इसका विरोध करना चाहिये और सरकारसे बलपूर्वक कहना चाहिये कि वह इस बिलको तुरंत वापस ले ले।

(२) बिलके समर्थक प्रत्येक सदस्यके पास पृथक्-पृथक् रूपसे जनताके द्वारा विरोध-पत्र पहुँचने चाहिये।

(३) स्थान-स्थानपर महिलाओंकी सभाएँ होनी चाहिये और विरोधी प्रस्ताव तथा लाखों-करोड़ों महिलाओंके हस्ताक्षरयुक्त विरोध-पत्र सरकारके पास पहुँचने चाहिये।

(४) न्यायप्रिय लेखकों और समाचारपत्र-सम्पादकोंको चाहिये कि इस बिलसे होनेवाली एक-एक बुराईको युक्ति-तर्क-पूर्वक सिद्ध करनेवाले लेखोंके द्वारा जनताको तथा अधिकारियोंको समझानेका प्रयत्न करें।

(५) कांग्रेस-कमेटियोंको न्याय तथा देशहितके नाते स्थान-स्थानसे इसका विरोध करना चाहिये।

(६) केन्द्रीय और प्रान्तीय धारासभाओंके जिन मन्त्री, सेक्रेटरी एवं सदस्य महोदयोंकी धर्मपत्नियाँ इस बिलके विरुद्ध मत रखती हों, उनको चाहिये कि वे युक्तप्रान्तके स्वायत्त-मन्त्री श्रीखेर महोदयकी धर्मपत्नी श्रीमती शान्ता खेरकी भाँति प्रकटरूपसे इस बिलका खुले शब्दोंमें विरोध करें।

(७) सच्चे धर्माचार्यों, विद्वानों तथा संन्यासी महोदयोंको स्थान-स्थानसे इसका विरोध करना चाहिये और अपना आध्यात्मिक प्रभाव डालकर अपने अनुयायी जनसमाजके द्वारा विरोध कराना चाहिये।

(८) सरकारको इस सच्ची स्थितिसे परिचय करा देना चाहिये कि हिंदू-जातिमें अधिकांश नर-नारी इस बिलके घोर विरोधी हैं और इसके कारण उनके हृदयोंमें बड़ा क्षोभ उत्पन्न हो रहा है।

(९) इस समय जनताकी सरकार है। जब जनताका प्रबलतम विरोध होगा तो सरकारको स्वाभाविक ही जनताकी बात माननी पड़ेगी। अतएव जनताको चाहिये कि वह बैधरीतिसे सर्वत्र इस बिलका उत्तरोत्तर घोर विरोध करे।

(१०) विरोधके तमाम प्रस्तावों, व्यक्तिगत पत्रों तथा तारोंकी एक प्रति माननीय प्रधानमन्त्री पं० श्रीनेहरूजीके नाम और दूसरी धारासभाके अध्यक्ष श्री० जी० वी० मावलंकर महोदयके नाम भेजनी चाहिये।

Regd. No. A. 175.

किसके द्वारा किसको जीते ?

असङ्कल्पाज्जयेत् कामं क्रोधं कामविवर्जनात् ।
अर्थानर्थेक्षया लोभं भयं तत्त्वावमर्शनात् ॥
आन्वीक्षिक्या शोकमोहौ दम्भं महदुपासया ।
योगान्तरायान् मौनेन हिंसां कायाद्यनीहया ॥
कृपया भूतजं दुःखं दैवं जह्यात् समाधिना ।
आत्मजं योगवीर्येण निद्रां सत्त्वनिषेवया ॥
रजस्तमश्च सत्त्वेन सत्त्वं चोपशमेन च ।
एतत् सर्वं गुरौ भक्त्या पुरुषो ह्यञ्जसा जयेत् ॥

(श्रीमद्भागवत ७ । १५ । २२-२५)

सङ्कल्पोंके त्यागसे कामपर और कामनाके त्यागसे क्रोधपर, जिसे लोग अर्थ कहते हैं उसे अनर्थ समझकर लोभपर और तत्त्वके विचारसे भयपर विजय प्राप्त करे । अध्यात्मविद्यासे शोक एवं मोह-पर, महापुरुषोंकी उपासनासे दम्भपर, मौनके द्वारा योगके विघ्नोंपर और शरीर, प्राण आदिको चेष्टारहित करके हिंसापर विजय प्राप्त करे । दयाके द्वारा आधिभौतिक दुःखपर, समाधिके द्वारा आधिदैविक दुःखपर, योगशक्तिसे आध्यात्मिक दुःखपर एवं सात्त्विक आहार, स्थान, संग आदिके द्वारा निद्रापर विजय प्राप्त करे । सत्त्वगुणके द्वारा रजोगुण और तमोगुणपर, उपरतिके द्वारा सत्त्वगुणपर विजय प्राप्त करे । श्रीगुरुकी भक्तिके द्वारा पुरुष इन सभी दोषोंपर सहज ही विजय प्राप्त कर सकता है ।